श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज

समन्वय

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

——गीता

वर्ष १] सौर वैशाख, सम्वत् १९७९ [अङ्क ४

श्रीरामकृष्ण के उपदेश ।

——:o:——

एक दिन जटाजूटधारी रामचन्द्र नामक एक ब्रह्मचारी दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण का दर्शन करने आये, उन्होंने बैठकर और कोई बातचीत नहीं की ; केवल "शिवोऽहम्" "शिवोऽहम्" ही पुकारते रहे। ठाकुर थोड़ी देर तो चुप रहे पर अन्त में बोले कि केवल 'शिवोऽहम्" कहने से क्या होगा ? जिस समय जीव उस सच्चिदानन्द शिव का हृदय में ध्यान कर तन्मय हो जाता है और उसे ईश्वर की अनुभूति हो जाती है, उसी अवस्था में ऐसा कहा जा सकता है । इसको छोड़कर केवल मुख से "शिवोऽहम्" कहने से क्या होगा। जिस समय तक ऐसा नहीं होता उस समय तक सेवक और सेव्य का ही भाव रखना अच्छा है। श्रीरामकृष्ण के इस प्रकार के उपदेशों को सुनकर ब्रह्मचारी को चैतन्य हो गया और उन्होंने अपना भ्रम समझ लिया। जाते समय दीवाल पर लिख गये कि "स्वामी के वाक्य से आज से रामचन्द्र ब्रह्मचारी सेव्य-सेवक भाव को प्राप्त हुआ ।

———

"एक लँगोटी के वास्ते"। एक साधु गुरू से उपदेश लेकर भगवान की साधना और भजन करने के लिये किसी गांव के निकट एक निर्जन स्थान में एक मामूली झोपड़ी बनाकर उसमें रहने और भजन करने लगे। वह प्रति दिन प्रातःकाल उठकर, नहा धोकर अपना गीला कपड़ा और लँगोटी झोपड़ी के पास एक पेड़ पर सूखने के लिये डाल देते थे। साधु जिस समय भिक्षा के लिये जाते थे, उसी समय एक चूहा आकर उनकी उस लँगोटी को काट देता था। साधु दूसरे दिन गाँव में जाकर एक नई लँगोटी मांग लाते थे। कुछ दिन बाद साधु ने स्नान कर के फिर उस गीली लँगोटी को झोपड़ी पर सूखने के लिये डाल दिया और भिक्षा मांगने के लिये गांव में चले गये। जब भिक्षा करके कुटी पर लौटे तो देखा कि चूहे ने फिर भी लँगोटी को टुकड़े-टुकड़े कर दिया है। यह देखकर वह भीतर ही भीतर बहुत चिढ़े और सोचने लगे कि "अब कहां से और किससे लँगोटी मांगकर लाऊँ।" दूसरे दिन फिर भिक्षा के लिये जाकर गांव के रहने वालों से चूहे के उपद्रव का हाल कहा। ग्रामवासियों ने सब हाल सुनकर कहा "आपको रोज रोज कौन लँगोटी देगा, आप एक काम कीजिये, एक बिल्ली पालिये तब बिल्ली के डर से चूहा न आवेगा।" साधु उसी समय गांव में से एक बिल्ली का बच्चा लाये। उसी दिन से बिल्ली के डर से चूहे का उपद्रव बन्द हो गया। इसको देखकर साधु की प्रसन्नता की सीमा ही न रही। क्रमशः साधु उस बिल्ली का विशेष आदर और यत्न से लालन-पालन करने लगे और गांव में जाकर बिल्ली के लिये दूध मांग कर लाने और उसे पिलाने लगे। कुछ दिन बाद किसी आदमी ने उनसे कहा "साधुजी! आपको रोज ही दूध की जरूरत है, भिक्षा करने से दो चार दिन काम चल सकता है, बारहो महीने आपको कौन दूध देगा। आप एक काम कीजिये, एक गाय पालिये। तब उसका दूध पीकर आप खुद भी तृप्त होंगे और बिल्ली को भी पिला सकेंगे। थोड़े ही दिन में साधु एक दुधार गाय तलाश करके लाये, अब साधु को दूध के लिये भिक्षा नहीं करनी पड़ी। धीरे धीरे साधु उस गाय को खिलाने के लिये घास और पुआल आदि को गांव गांव में भिक्षा करने लगे। तब गांववाले उनसे कहने लगे कि अपनी कुटी के पास की परती जमीन में आप खेती कीजिये, ऐसा करने से फिर घास पुआल के लिये भिक्षा न करनी पड़ेगी। तब साधु ने सबकी राय से कुटी के नजदीक की जमीन में खेती करना शुरू किया। खेतों के लिये धीरे धीरे उन्हें आदमी आदि की जरूरत हुई। जब फसल इकट्ठा होने लगी तब उसको रखने के लिये खलिहान इत्यादि बनाकर वह ठीक गृहस्थ की भाँति उसमें बहुत लीन होकर दिन बिताने लगे। कुछ दिन बाद साधु के गुरूजी उस जगह आये। उन्होंने वह सब सम्पत्ति देखकर एक नौकर से पूछा कि इस स्थान पर एक त्यागी कुटी में रहते थे, क्या तुम कह सकते हो कि वह कहाँ गये? नौकर कुछ जवाब न दे सका। इसके बाद स्वयं उस साधु के घर में घुस कर उन्होंने सामने अपने शिष्य को देखकर पूछा "बच्चा यह सब क्या है?" शिष्य सङ्कुचित होकर उसी समय गुरूजी के पैर पड़ा और कहने लगा, गुरूजी यह सब 'एक लँगोटी के वास्ते।' साधु एक एक करके सब वृत्तान्त गुरूजी से कहने लगे। गुरूजी के दर्शन से उनकी सारी आशक्ति हट गई और वह उसी समय सब सम्पत्ति का त्याग कर गुरूजी के साथ चले गये।

क्या ईश्वर या कोई त्रिकालज्ञ हो सकता है ?

——:o:——

(लेखक—पं० शिवकुमार शास्त्री, सम्पादक-ज्ञानशक्ति)

यह कई बार सिद्ध किया जा चुका है कि बिना वेदान्त का अद्वैत मत माने ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करना असम्भव है। इस सिद्धान्त को लेकर करीब करीब ईश्वर के सभी नामों और गुणों पर विचार किया जा चुका है और विचार करने पर वही फल निकला, जो ऊपर बताया गया है। इस लेख में ईश्वर की त्रिकालज्ञता वा उसके त्रिकालज्ञ नाम पर विचार किया जायगा। यदि ईश्वर त्रिकालज्ञ है, तो यह मानना पड़ेगा, कि वह भविष्य की सारी बातों को अथवा होनेवाली सारी घटनाओं को जानता है। अस्तु, यदि वह भविष्य की होनेवाली सारी बातों को जानता है तो यह मानना ही पड़ेगा, कि उसने भविष्य में होनेवाली सारी घटनाओं को नियत कर रखा है। अभिप्राय यह कि कल जो बात होगी, उसे ईश्वर आज ही से जानता है और बिलकुल ठीक ठीक इस तौर से जानता है, कि उसमें कोई भेद नहीं पड़ सकता, पर ऐसा तभी हो सकता है जब कल की सारी घटनाओं और बातों का नियामक वा कर्त्ता एकमात्र ईश्वर ही हो। ऐसा मान लेने पर जीव कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं रह जाता। जो कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं, वह कर्ता भी नहीं कहला सकता। पाणिनि मुनि ने भी "स्वतन्त्रः कर्त्ता" इस सूत्र के अनुसार कर्त्ता को स्वतन्त्र माना है। जो कर्त्ता नहीं वह जीव पाप-पुण्य का भागी भी नहीं हो सकता। पर ईश्वर पापपुण्य का फल जीव को देता है। ऐसा सभी द्वैतवादी मानते हैं। अस्तु बिना किये ही जो ईश्वर जीव को धर्माधर्म और पापपुण्य का

भागी बनाता है वह न्यायकारी नहीं, किन्तु महा अन्यायी सिद्ध होगा। जो अन्यायी है वह ईश्वर कैसे कहला सकता है ? अतः ईश्वर की त्रिकालज्ञता सिद्ध नहीं होती।

मान लीजिये कि कल मोहनलाल हमारे सामने कुछ ऐसी बातें कहेगा जिसे भ्रमवश हम अपनी निन्दा समझ उसे मार देंगे। ईश्वर की त्रिकालज्ञता स्वीकार करने पर यह मानना पड़ेगा कि वह इन बातों को पहले से ही जानता था। इसका अर्थ यह है कि कल हम मोहनलाल को मारेंगे, इसे ईश्वर ने पहले ही नियत कर दिया है। जब उसे ईश्वर ने नियत कर दिया है तो वह कार्य हमें अवश्य करना पड़ेगा अर्थात् कल जो कार्य हमसे होनेवाला है उसके नियामक या स्वतन्त्र कर्त्ता हम नहीं हैं। हम काम वैसा ही करेंगे जैसा कि ईश्वर ने पहले से नियत कर रखा है। अतः ईश्वर की त्रिकालज्ञता जीव की स्वतन्त्रता की बाधक है। मोहनलाल हमारे सामने जिस बात को कल कहेगा उसके लिये वह विवश है, उसे वह बात अवश्य कहनी पड़ेगी। इसी तरह उसे मारने के लिये भी हम विवश हैं, विवशता इसलिये है कि जो बात होनेवाली है वह ईश्वर द्वारा नियत है। उसे ईश्वर जानता है इस होनहार को कोई टाल नहीं सकता।

यदि होनहार अथवा भविष्य नियत नहीं है, किन्तु वह दूसरे की इच्छा पर निर्भर है, तो ईश्वर त्रिकालज्ञ नहीं हो सकता। यदि कल की बात दूसरे की इच्छा पर निर्भर है और उसने नियत नहीं कर लिया है कि कल क्या करेंगे, किन्तु कल जैसी उसकी इच्छा होगी वैसा ही करेगा, तो ईश्वर कदापि नहीं जान सकता कि कल क्या होगा। यदि ईश्वर ने अपनी शक्ति से यह नियत कर दिया है कि कल मोहनलाल ऐसा ही करने की इच्छा

करेगा और उसे दुसरा अवश्य मारेगा, तो ईश्वर के सिवाय दूसरा कोई कल के कार्य में स्वतंत्र नहीं है।

ईश्वर त्रिकालज्ञ है—इस वाक्य का अर्थ यह भी है कि वह भविष्य को वर्तमान की तरह स्पष्ट देख रहा है। त्रिकालज्ञ के सामने सारा भविष्य क्रम-बद्ध यथावत् दृष्टिगोचर होगा। इस नियत क्रम वा प्रवाह को कोई रोक वा तोड़ नहीं सकता। यदि इस नियत क्रम वा प्रवाह को कोई रोक वा तोड़ नहीं सकता, तो मानना ही पड़ेगा कि ईश्वर के सिवाय संसार में कोई एक तृण भी हिलाने में समर्थ नहीं है। मान लीजिये कि मोहनलाल नामक एक बालक है; यह बालक ६० वर्ष तक जीवित रहेगा, इस बात को ईश्वर जानता है। मान लीजिये कि त्रिकालज्ञ ईश्वर से पूछा गया कि इस लड़के की कितनी आयु है। वह स्पष्ट उत्तर देगा कि ६० वर्ष की। इसका मतलब यही है कि उसकी ६० की वर्ष आयु नियत है उसके प्रयत्न से घट वा बढ़ नहीं सकती। ईश्वर ही क्यों, बहुत से और लाग भविष्य के ज्ञाता बनते हैं और माने जाते हैं। अतः चाहे कोई भी क्यों न हो वह भविष्यज्ञ वा दैवज्ञ तभी हो सकता है जब भविष्य की तमाम बातें नियत हों। यदि भविष्य नियत नहीं है, तो दैवज्ञ भविष्य का ज्ञाता नहीं हो सकता। यदि भविष्य नियत न हो तो दैवज्ञ यही उत्तर देगा कि यदि यह अच्छा कर्म करेगा तो अधिक दिन जीवित रहेगा और बुरा कर्म करेगा तो कम दिन। पर इतना ही कहने से कोई त्रिकालज्ञ, दैवज्ञ या भविष्य का ज्ञाता नहीं कहला सकता। क्योंकि इतना तो सभी जानते हैं। यदि ईश्वर भी इतना ही जानता है कि यदि वह अच्छा कर्म करेगा तो अधिक दिन जीवित रह सकेगा, तो इतना ही जानने से वह त्रिकालज्ञ नहीं हो सकता। क्योंकि वह ठीक ठीक नहीं जानता

कि वह अच्छा कर्म करेगा या नहीं। जो भविष्य का ठीक ठीक ज्ञान नहीं रखता वह त्रिकालज्ञ कैसे? पर यहीं यदि यह कहा जाय कि ईश्वर ठीक ठीक जानता है कि वह भविष्य में अच्छा कर्म करेहीगा और उसके फल स्वरूप वह अधिक दिन जीवित रहेगा तो यह मानना पड़ेगा कि या तो उन अच्छे कार्यों को वह स्वयं करावेगा या उससे अच्छे अच्छे कार्य होने ही वाले हैं, इसे वह पहले ही नियत कर चुका है। दोनों ही अवस्थाओं में कर्मों का उत्तरदाता जीवात्मा नहीं रह जाता। हां, एक अवस्था ऐसी है जब कर्मों के नियत होने पर भी जीव कर्मों का उत्तर-दाता हो सकता है। वह अवस्था यह है कि जब जीव अपने तमाम भविष्य के कार्यों को नियत कर चुका हो। पर यह तभी हो सकता है जब जीव अपने तमाम भविष्य का ज्ञाता हो। बिना भविष्य को जाने वह कैसे नियत कर सकता है कि भविष्य में यह करेंगे और इसके बाद दूसरा। इतना ही नहीं जीव को अपना भविष्य नियत करने पर दूसरों का भी भविष्य जानना पड़ेगा। हमारा बहुत सा कार्य दूसरे जीवों और संसार के आश्रय पर रहता है ऐसी अवस्था में अपने करोड़ों जन्म का भविष्य वही जीव नियत कर सकता है जो सारे संसार के भविष्य का ज्ञाता हो और सारा संसार उसके अधीन हो। सभी द्वैतवादी इसे एक स्वर से स्वीकार करेंगे कि जीव ऐसा नहीं हो सकता। एक आदमी ने यह सोचा कि आज रेल पर सवार होकर अयोध्याजी चलें। उसने सोचा कि कल रेल से अयोध्या पहुँच जायंगे। स्टेशन पर आने से मालूम हुआ, कि अयोध्याजी का टिकट बन्द है। वहां हैजा फैला है। उस मनुष्य ने जो सोचा था वह नहीं हुआ। अतः मनुष्य अपने करोड़ों जन्म का भविष्य स्वयं नियत नहीं कर सकता, किन्तु

यह सब ईश्वर ही कर सकता है। इसमें तो विवाद नहीं कि ईश्वर सब कुछ कर सकता है पर यदि उसने सब कार्यों को पहले से ही नियत कर रखा है तो जीव को पापपुण्य का भागी नहीं होना चाहिये। अतः बड़े से बड़े पापी को भी ईश्वर दण्ड नहीं दे सकता पर ऐसा मानने से द्वैतवाद में बड़ी गड़बड़ी मच जायगी। अतः इन विचारों से भी ईश्वर की त्रिकालज्ञता सिद्ध नहीं होती।

यहां पर प्रश्न यह हो सकता है, कि क्या सचमुच ईश्वर त्रिकालज्ञ नहीं हो सकता? इसका साफ साफ उत्तर है कि ईश्वर त्रिकालज्ञ अवश्य है पर सिवाय अद्वैत सिद्धान्त के दूसरे मजहब-वाले अर्थात् द्वैत सिद्धान्तवाले इसे सिद्ध नहीं कर सकते। प्राचीन काल के महात्माओं ने जीव को कार्य करने में स्वतन्त्र नहीं माना है। जैसे गीता में भी लिखा है :—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

रामायण में महात्मा तुलसीदास जी ने लिखा है :—

होइहैं वही जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै शाखा॥
का कहँ कोउ लगावै दूषण। सब कर्ता रघुवंश विभूषण॥
उमा दारु योषित की नाईं। सबै नचावै राम गोसाईं॥
जो बहु वार नचावा मोहीं। सो विहंगपति व्यापेउ तोहीं॥

पाण्डव गीता में कहा है:—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः,
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन,
यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि॥

इन पूर्वोक्त वाक्यों से यही मालूम होता है कि कार्य करने में जीव स्वतंत्र नहीं है, किन्तु ईश्वर के वश में है। वेद के केनोपनिषत् ने भी इसी विषय को विस्तार से कहा है। विचारने से भी यही मालूम होता है कि यदि ईश्वर त्रिकालज्ञ है तो जीव कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं हो सकता, यदि यह बात ठीक है तो ईश्वर के राज्य में महा अन्धेर हो रहा है। संसार में असंख्य जीव ऐसे निकलेंगे जिनकी दशा देखकर पत्थर का भी हृदय पिघल जायगा। संसार में ऐसे असंख्य मनुष्य हो चुके हैं कि यदि वे अपनी दुःख कथा को कहना आरम्भ करें, तो निर्दई की भी आंखों में पानी भर जायगा। लोग कहते हैं कि संसार में दुःख ही अधिक है। प्रश्न यह है कि ऐसे दुःख-पूर्ण संसार को ईश्वर ने क्यों बनाया? संसार में अनेक मनुष्य दुःख से तड़प रहे हैं, छटपटा रहे हैं, पर ईश्वर तमाशा देख रहा है यदि कहिये कि मनुष्य अपने कर्मों का फल पा रहा है, तो ईश्वर और भी निर्दई और अन्यायी सिद्ध होता है। जो मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं है—जो किसी कर्म को अपनी इच्छा से नहीं करता, जो ईश्वर के नियत किये कर्म को करने के लिये विवश है—जो कठपुतली की तरह परतन्त्र होकर नाच रहा है—उस मनुष्य को, कर्म का फल देकर दुःखी करना कहां का न्याय हो सकता है। इस परतन्त्रता की दशा में जीव को पाप का फल देना महा अन्याय है। ईश्वर को तो संसार में कोई दुःख है ही नहीं, जो दुःख है वह जीवों को। संसार रूपी जाल बिछाकर जीवों को फंसा कर, उसमें अनेक प्रकार के दुःखों की सृष्टि कर ईश्वर जीव समुदाय को अनेक प्रकार से दुःखी कर रुला रहा है और स्वयं तमाशा देखता है। ईश्वर को दयालु तब कहते जब वह जीवों के लिये ऐसी सृष्टि को

उत्पन्न करता जिसमें विशेष कर आनन्द ही आनन्द होता।

इन सब आक्षेपों का यथार्थ उत्तर तभी हो सकता है जब जीवों को ईश्वर से अभिन्न माना जाय। वेदान्त जीव और ईश्वर को अलग नहीं मानता; वह दोनों को एक मानता है। अद्वैत सिद्धान्त कहता है कि अपने को खिलाने पिलाने या पहिनाने से कोई दानी नहीं कहलाता, इसी तरह अपने पैर में एक थप्पड़ मारने से कोई निर्दयी भी नहीं कहलाता। संसार में चाहे सुख हो या दुःख वह इसे दूसरों के लिये नहीं बनाता है। जीव रूप से वह स्वयं आया है। जो कुछ हो वह किसी को भोगाता नहीं, वह किसी दूसरे को सुखी वा दुखी नहीं करता, किन्तु वह स्वयं एक से अनेक होकर सब कुछ भोग रहा है।

वेदान्त का दूसरा उत्तर इस विषय में यह है कि यह संसार वास्तविक नहीं है, किन्तु काल्पनिक है। अतः इसका दुःख भी काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। काल्पनिक बात को लेकर कोई किसी पर दोषारोपण नहीं कर सकता। शिवप्रसाद के कहने पर वन्ध्यापुत्र ने हमें मारा है—यह ठीक नहीं है। वन्ध्यापुत्र के कारण किसी को दोषी ठहराना जिस तरह युक्ति संगत है, उसी तरह वेदान्त के अनुसार संसार के कारण ईश्वर को दोषी ठहराना है। वन्ध्या पुत्र ही नहीं, तो उसका मारना कैसे हो सकता है। वेदान्त संसार को वन्ध्यापुत्रवत् असत्य मानता है। अतः इसके किसी कार्य को लेकर कोई ईश्वर को दोषी नहीं ठहरा सकता। अद्वैत मत कहता है कि संसार का दुःख वा सुख सत्य नहीं है। यह स्वप्नवत् मन की कल्पना है। जैसे लीला वा खेल के निमित्त राजा के लड़के खेलते समय अपने स्वरूप को भुलाकर चोर बनते और दुःख उठाते हैं; उसी तरह लीला के निमित्त ब्रह्म माया

का अवलम्बन कर अपने स्वरूप को छिपाकर जीवरूप से अनेक रूप धारण करता और इस लीलाभूमि में खेलता है। खेल में बारंबार दुःख उठाकर भी कोई लड़का उसे दुःख नहीं मानता, किन्तु बारंबार उसीको खेलता और उसीमें सुख मानता है। इसी तरह संसार में इतना दुःख होनेपर भी कोई संसार छोड़ने के लिये तैयार नहीं है। स्त्री पुत्र से चाहे दुःख ही दुःख क्यों न हो पर सभी इसी दुःख में ही सुख मानते और बारंबार इसीकी इच्छा करते हैं संसार का जो मनुष्य संसार के इस रहस्य को जान लेता है, जो ईश्वर जीव वा संसार के सच्चे ज्ञान को प्राप्त कर लेता है—जो यह समझ लेता है कि यह सब मनोमय और काल्पनिक है—उसके लिये यह दुःख का स्थान, स्वर्गवत् सुख तथा आनन्द का स्थान हो जाता है। ऐसा मनुष्य जीव-पद को छोड़कर ईश्वर-पद को प्राप्त होता है। सारा संसार मनोमय और कल्पना है, अतः अब अपनी कल्पना से अपने मनोबल, इच्छा-शक्ति वा विश्वास से जैसा चाहें बन सकते हैं। अपनी कल्पना को लोग भोग रहे हैं। जिसकी जैसी कल्पना है वह वैसा भोग रहा है। सब अपना ईश्वर आप है। जीव से अलग कोई दूसरा ईश्वर नहीं है। सृष्टि का बनाने वाला वा पापपुण्य का फल देनेवाला जीव से भिन्न कोई ईश्वर नहीं है। असंख्य जीवों के पापपुण्य का हिसाब किसी एक व्यक्ति, पुरुष वा आत्मा का रखना असम्भव है। गङ्गा के किनारे जिस तरह बालू के असंख्य कण पड़े हैं, उसी तरह ईश्वर की सृष्टि में असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, एक ब्रह्माण्ड में अनेक भूगोल हैं। एक भूगोल में असंख्य जीव हैं। एक एक जीव के असंख्य जन्म हो चुके हैं, फिर भी एक एक जन्म में विभिन्न प्रकार के कार्यों की संख्या अनन्त, असंख्य और अगण्य है। क्या इन अनन्त और

असंख्य कर्मों का हिसाब कभी हो सकता है? यदि हिसाब ही नहीं हो सकता तो ईश्वर ऐसा न्यायकारी जो बिलकुल ठीक ठीक न्याय करना चाहता है—क्या न्याय करेगा? यदि कहिये कि उसको अनन्त शक्ति है—वह सब कुछ कर सकता है—कह सकते हैं। पर यह कथन सन्तोषजनक नहीं है; इससे सन्तोष नहीं होता। वह सब कुछ कर सकता है—इसका क्या अर्थ है? क्या वह पाप भी कर सकता है? क्या वह किसी अविनाशी का नाश भी कर सकता है? नहीं कर सकता। बहुत से द्वैतवादियों के मत से जीव अनादि, अनन्त और अविनाशी है। क्या ईश्वर इस जीव का आदि और अन्त बता सकता है? क्या ईश्वर इस अमर जीवात्मा को मार सकता है? कभी नहीं। अविनाशी का नाश ईश्वर भी नहीं कर सकता। अनादि के आदि का पता ईश्वर को भी नहीं है। अनन्त का अन्त ईश्वर भी नहीं पा सकता। इसी तरह संसार के असंख्य और अनन्त जीवों के अनन्त और असंख्य कर्मों का पता ईश्वर भी नहीं लगा सकता। किसी भक्त ने ठीक कहा है—"हे ईश्वर हमारे एक ही जन्म के पापों की संख्या इतनी अधिक है कि आप गिनते गिनते थक जायंगे और बिना गिने न्याय करना असंगत समझ अन्त में यही कहना पड़ेगा कि जाओ, जैसे हमने अजामिल, व्याध और गणिका को मुक्त कर दिया वैसे ही तुम्हें भी मुक्त कर देते हैं। हे भगवन्! हमारे असंख्य जन्मों के अनन्त पापों को आप अपनी अनन्त शक्ति से अनन्त दिनों में ही गिन सकेंगे। इसका मतलब यही है, कि नहीं गिन सकेंगे। अतः जिस बात को आप नहीं कर सकते, उसके लिये यत्न क्यों करेंगे? हे दयानिधे, आप पतितपावन हैं। आपको अपना नाम सार्थक करने के

लिये हमारे ऐसा पतित खोजने पर भी आपकी सृष्टि में नहीं मिलेगा। हम स्वयं आपके पवित्र दरबार में आ गये हैं, हमें हटाकर आप कहां रखेंगे—कहां फेंकेंगे? वह कौनसा स्थान है जहां आप नहीं हैं? वह कौन सा स्थान है जो आपके व्यापक रहने पर भी पवित्र नहीं हुआ। अतः अब यही एक उपाय है कि हमें भी पवित्र करके अपने दूसरे भक्तों की तरह मुझ पापी को भी मुक्त करके अपनी पतित-पावनी शक्ति का उपयोग कीजिये और संसार में उसका परिचय दीजिये। पतित पावन की बड़ाई पतितों को पवित्र करने में ही है।" बात बहुत ठीक है। असंख्य जीवों के अनन्त पापों का पार ईश्वर भी नहीं पा सकता, फिर न्याय क्या करेगा? अतः यदि द्वैतवादियों के समान जीव और ईश्वर को अलग अलग माना जाय; दोनों को भिन्न भिन्न माना जाय, एक न माना जाय तो किसी तरह किसी बात की संगति नहीं बैठती। अतः वेदान्त का अद्वैत सिद्धान्त सर्वथा सत्य है। जीव और ईश्वर दोनों एक हैं। ईश्वर जीव से भिन्न नहीं है। सब का फल देनेवाला ईश्वर सब के साथ है। अपने कर्मों के फलदाता हम स्वयं हैं, हमें जो कुछ मिला है वह हमारी कल्पना का फल है।

अस्तु, सबका तात्पर्य यह है कि बिना अद्वैत मत स्वीकार किये ईश्वर का सिद्ध करना असम्भव है।

———

मेरी समर नीति।

[स्वामी विवेकानन्द]

(गतांक से आगे)

इसके बाद एक और भी महत्वपूर्ण विषय विचारणीय है। भारतवर्ष में हमारा शासन सदा ही राजाओं के द्वारा हुआ है. राजाओं ने ही हमारे सब कनून बनाये हैं। अब वे राजे नहीं हैं और कोई इस विषय में अग्रसर होने के लिये मार्ग दिखानेवाला भी नहीं बचा है। गवर्नमेंट साहस नहीं कर सकती। गवर्नमेंट सर्वसाधारण के विचारों की वृद्धि देखकर ही अपनी कार्य-प्रणाली निश्चित करती है। अपनी समस्याओं को हल कर लेने-वाली, कल्याणकर, प्रबल सर्व साधारण की सम्मति स्थिर करने में समय लगेगा और खूब अधिक समय लगेगा और इस बीच में हमें उसको प्रतीक्षा करनी होगी। अतः सामाजिक सुधार की सम्पूर्ण समस्या इस भांति उपस्थित होती है, वे लोग कहां है जो सुधार चाहते हैं? पहले उनको प्रस्तुत करो। संस्कार चाहनेवाले लोग कहां हैं? संसार की सबसे बड़ी खराबी है संख्या की कमी। थोड़े लोग जो विचार करते हैं कि कुछ चीजें बुरी हैं वे समग्र जाति को अग्रसर न होने देंगे। समग्र जाति अग्रसर क्यों नहीं होती? पहले समग्र जाति को शिक्षित करो अपनी व्यवस्थापिका संस्थायें बनाओ तो नियम स्वयं ही आ जायंगे। पहले उस शक्ति को उत्पन्न करो, जिससे नियम उत्पन्न होंगे। राजा नहीं हैं, नई शक्ति जिससे नई व्यवस्थायें होंगी. वह लोक-शक्ति कहां है? पहले उसी लोक शक्ति को सङ्गठित करो। अस्तु, समाज संस्कार के लिये भी लोगों को शिक्षित करना प्रथम कर्तव्य है।

जब तक यह शिक्षा पूर्ण न हो तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। गत शताब्दि में जिन सब संस्कारों के लिये आन्दोलन हुआ,] वे केवल ऊपरी दिखाव मात्र थे। इन संस्कारों में प्रत्येक प्रथम दो जातियों से ही सम्बन्ध रखता है, दूसरों से नहीं। विधवा विवाह के प्रश्न से ७० प्रति सैकड़ा भारतीय रमणियों से कोई सम्बन्ध नहीं है और इन सब आन्दोलनों का सम्बन्ध भारत के उच्च वर्णों से ही है जो जन साधारण को वञ्चित कर स्वयं शिक्षित हुए हैं। अपना घर साफ करने के लिये सभी प्रयत्न किये गये, पर यह संस्कार नहीं कहा जा सकता।

संस्कार करने में हमें चीज के भीतर अर्थात् जड़ तक पहुंचना होगा। इसीको मैं आमूल संस्कार कहता हूं। जड़ में अग्नि स्थापित करो और उसे कमशः ऊपर की ओर बढ़ने दो और एक भारतीय जाति सङ्गठित करने दो। यह समस्या बड़ी और विस्तृत है। अतः इसका हल होना भी उतना सरल नहीं है। गत कई शताब्दियों से यह समस्या हमारे महापुरुषों को ज्ञात थी, आज कल विशेषतः दक्षिण में बौद्ध धर्म और उसके निरीश्वरवाद की आलोचना करने की एक प्रथा सी चल पड़ी है। इसका उन्हें स्वप्न में भी ध्यान नहीं होता कि जो दोष आज कल हम लोगों में वर्तमान हैं वे बौद्ध धर्म के ही द्वारा हममें छोड़े गये हैं। जिन लोगों ने बौद्ध धर्म का उन्नति और अवनति के इतिहास को कभी नहीं पढ़ा है, उन के द्वारा लिखी गई पुस्तकों में तुम लोगों ने पढ़ा है कि गौतम बुद्ध के द्वारा प्रचारित अपूर्व नीति और उनके लोकोत्तर चरित्र से ही बौद्ध धर्म का इतना विस्तार हुआ। भगवान बुद्धदेव के प्रति मेरी यथेष्ट श्रद्धा-भक्ति है। पर मेरे शब्दों की ओर विशेष ध्यान दो. बौद्ध धर्म का विस्तार गौतम बुद्ध के मत वा अपूर्व चरित्र

के कारण नहीं हुआ, उसके विस्तार के कारण है, बौद्धों के द्वारा निर्माण किये गये मन्दिर, प्रतिमायें और समग्र जाति के सम्मुख किये गये भड़कीले उत्सव आदि। इस भांति बौद्धधर्म ने उन्नति की। इन सब बड़े बड़े और भड़कीले उत्सवों और मन्दिरों के सामने घरों में हवन के लिये प्रतिष्ठित छोटी छोटी अग्निशालायें न ठहर सकीं, पर अन्त में इन सब की अवनति हुई। इन सब ने वह घृणित भाव धारण किया जिसका वर्णन भी श्रोताओं के सामने नहीं किया जा सकता। जिन लोगों को इनके जानने की इच्छा हो वे दक्षिण भारत के नाना प्रकार की नकाशियों से युक्त बड़े बड़े मन्दिरों में इन्हें देख सकते हैं। बौद्धों से हमने दाय स्वरूप केवल इन्हें ही पाया है। इसके बाद महान संस्कारक श्रीशङ्कराचार्य और उनके अनुयाइयों का अभ्युदय हुआ। उस समय से आज तक इन कई सौ वर्षों में भारतवर्ष की सर्व साधारण जनता को धीरे धीरे उस मौलिक विशुद्ध वेदान्त के धर्म की ओर लाने की चेष्टा की गई है। उन संस्कारकों को बुराइयों का पूरा ज्ञान था पर उन्होंने समाजकी निन्दा नहीं की। उन्होंने नहीं कहा कि जो कुछ तुम्हारे पास है वह सभी गलत है, उसे तुम फेंक दो" ऐसा कभी नहीं हो सकता। आज मैंने पढ़ा कि मेरे मित्र डाक्टर बरोज कहते हैं, कि ईसाई धर्म के प्रभाव ने ३०० वर्षों में ग्रीक और रोमन धर्म के प्रभाव को उलट दिया। जिसने कभी यूरोप, ग्रीस और रोम को देखा है वह कभी ऐसा नहीं कह सकता। रोमन और ग्रीक धर्मों का प्रभाव, प्रोटेस्टेंट देशों तक में सर्वत्र वर्तमान है। केवल नाम बदल कर प्राचीन देवता नये वेश में वर्तमान हैं। उनका केवल नाम ही बदला गया है। देवियाँ तो 'मेरी' हो गई, देवता 'साधु' हो गये और अनुष्ठानों ने नया नया रूप धारण किया।

पांटिफेक्स मेक्सेमस * आदि प्राचीन उपाधियां पूर्ववत् ही वर्तमान हैं। इसलिये अचानक परिवर्तन नहीं हो सकते। स्वामी शंकराचार्य और रामानुज भी इसे जानते थे। सुतरां, उस समय प्रचलित धर्म को उच्चतम आदर्श के निकट पहुंचा देना ही उनके लिये एक उपाय शेष था। यदि वे दूसरी प्रणाली को प्रचलित करने की चेष्टा करते, तो वे कपटी हो जाते, कारण कि उनके धर्म का प्रधान मत था क्रमशः विकाशवाद। उनके धर्म का यही मूलतत्व है कि इन सब नाना प्रकार की अवस्थाओं में होकर आत्मा उच्चतम लक्ष पर पहुंचता है। अतः ये सभी अवस्थायें आवश्यक और हमारी सहायक हैं। कौन इनकी निन्दा करने का साहस कर सकता है?

मूर्त्ति-पूजा को खराब बताने की प्रथा सी चल पड़ी है और आज कल सब लोग बिना किसी आपत्ति के उसमें विश्वास भी करने लग गये हैं। मैंने भी एक बार ऐसा ही विचारा और उसके दण्ड स्वरूप हमें एक ऐसे व्यक्ति के चरणकमलों में बैठ कर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी जिसने सब कुछ मूर्त्ति-पूजा के ही द्वारा प्राप्त किया था। मेरा अभिप्राय श्रीरामकृष्ण परमहंस से है। यदि मूर्त्ति-पूजा के द्वारा श्रीरामकृष्ण ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हो सकते हैं। तब आप क्या चाहते हैं--संस्कारकों का धर्म या मूर्त्ति-पूजा? मैं इस प्रश्न का उत्तर चाहता हूं। यदि मूर्त्ति-पूजा के द्वारा श्रीरामकृष्ण परमहंस उत्पन्न हो सकते हैं तो और हजारों मूर्त्तियों की पूजा करो और ईश्वर तुम्हें इसमें सिद्धि दे। जिस किसी भी उपाय से हो सके, इस प्रकार के महात्मा पुरुषों की सृष्टि करो। फिर भी

*रोम में पुरोहित विद्यालयके प्रधानाध्यापक इसी नामसे पुकारे जाते हैं। इसकाअर्थ है, प्रधान पुरोहित। अभी भी पोप इसी नामसे पुकारे जाते हैं।

मूर्त्ति-पूजा की निन्दा की जाती है। क्यों? यह कोई नहीं जानता। कारण कि, हजारों वर्ष बीते किसी यहूदी ने इसकी निन्दा की थी। अर्थात् उसने अपनी मूर्त्ति को छोड़कर और सबकी मूर्त्तियों की निन्दा की थी। उस यहूदी ने कहा, यदि ईश्वर का भाव किसी विशेष भाव-प्रकाशक वा किसी मूर्त्ति के द्वारा प्रकाशित किया जाय, तो यह भयानक दोष है, यही पाप है। परन्तु यदि वह एक सन्दूक के दो किनारों पर दो देवदूतों के बीच में बैठा हो और उसके ऊपर बादल हो, ऐसे भाव को प्रकाश करे तो वह बहुत ही पवित्र होगा। यदि वह पेंडुकी का रूप धरकर आवे तो वह महापवित्र होगा। पर यदि वह गाय का रूप धारण करके आवे तो यह मूर्त्ति-पूजकों का कुसंस्कार होगा, उसकी निन्दा करो। दुनिया का यही भाव है। इसीलिये कवि ने कहा है कि हम मरनेवाले जीव कितने निर्बोध हैं। इसलिये परस्पर के दृष्टिकोण से देखना और विचार करना कितना कठिन है और यह मनुष्य समाज की उन्नति के लिये विघ्न स्वरूप है। यही ईर्ष्या, घृणा और झगड़ा-लड़ाई का मूल है। लड़के और बिना समय ही बड़ी अवस्था को प्राप्त बच्चे, जो कभी मद्रास के बाहर नहीं गये, वे हजारों संस्कारों से नियन्त्रित ३० करोड़ मनुष्यों को खड़े होकर नियम बताना चाहते हैं, क्या इसमें उन्हें लज्जा नहीं आती? इस प्रकार की निन्दा से विरत हो जाओ, पहले स्वयं शिक्षित बनो। श्रद्धाहीन बालकगण, तुम कागज पर कुछ पंक्तियां केवल घसीट सकते हो और उन्हें किसी मूर्ख के द्वारा प्रकाशित कराकर तुम समझते हो कि तुम जगत के शिक्षक हो और तुम्हारी ही राय भारत के सर्व साधारण की राय है। क्या ऐसी बात नहीं है? मैं मद्रास के समाज संस्कारकों से कहना चाहता हूं कि मुझ में उनके प्रति खूब श्रद्धा

और प्रेम है। उनके विशाल हृदय, उनकी स्वदेश प्रीति, पीड़ितों और दरिद्रों के प्रति उनके प्रेम के कारण ही मैं उनसे प्रेम करता हूं। मैं उनसे भ्रातृ-प्रेम के तौर पर कहूंगा कि उनकी कार्यप्रणाली ठीक नहीं है। इस प्रणाली से भारत वर्ष में कई सौ वर्ष काम हुआ, पर वह सफल नहीं हो सका। अब हमें किसी नई प्रणाली से काम करना चाहिये। क्या भारतवर्ष में कभी संस्कारकों का अभाव था? क्या तुमने भारत का इतिहास पढ़ा है? रामानुज, शंकर, नानक, चैतन्य, कबीर और दादू कौन थे? ये बड़े बड़े धर्माचार्यगण, जो भारत-गगन में अति उज्वल नक्षत्रों की भांति एक के बाद एक उदय हुए और फिर अस्त हो गये, कौन थे? क्या रामानुज के हृदय में नीच जाति के लिये प्रेम नहीं था? क्या उन्होंने अपने सारे जीवन में चाण्डाल तक को अपने सम्प्रदाय में ले लेने का प्रयत्न नहीं किया? क्या उन्होंने अपने सम्प्रदाय में मुसलमान तक को मिला लेने का प्रयत्न नहीं किया? क्या नानक ने मुसलमान और हिन्दू दोनों से समान भाव से परामर्श कर समाज में नये भाव लाने की चेष्टा नहीं की? इन सब लोगों ने प्रयत्न किया और उनका काम अभी भी जारी है। भेद केवल यही है कि वे आज कल के समाज-संस्कारकों की तरह दाम्भिक नहीं थे, वे अपने मुँह से कभी शाप का उच्चारण नहीं करते थे। उनके मुँह से केवल आशीर्वाद ही निकलते थे। उन्होंने कभी समाज के ऊपर दोषारोप नहीं किया। उन्होंने लोगों से कहा कि जाति को धीरे धीरे उन्नत करना होगा। उन्होंने अतीत की ओर दृष्टि फेरकर कहा कि "हिन्दुओ, तुमने अभी तक जो किया अच्छा ही किया, पर भ्रातृगण, तुम्हें इससे भी अच्छा करना होगा उन्होंने यह नहीं कहा कि "पहले तुम मन्द

थे और अब तुम्हें अच्छा होना होगा।" उन्होंने यही कहा कि "पहले तुम अच्छे थे, अब और भी अच्छे बनो।" इन दोनों बातों में बड़ा भेद है। हम लोगों को अपनी प्रकृति के अनुसार उन्नति करनी होगी। वैदेशिक संस्थाओं ने यत्नपूर्वक जिस प्रणाली को हममें प्रचलित करने की चेष्टा की है उसके अनुसार काम करना वृथा है, वह असम्भव है। ईश्वर को धन्यवाद है कि हम लोग तोड़-मरोड़ कर दूसरी जाति में परिणत नहीं किये जा सकते, यह असम्भव है। मैं दूसरी जातियों की सामाजिक प्रथा की निन्दा नहीं करता। वे उनके लिये अच्छी हैं पर हमारे लिये नहीं। उनके लिये जो कुछ अमृत है हमारे लिये वही विष हो सकता है। पहले यही शिक्षा ग्रहण करनी होगी। अन्य प्रकार के विज्ञान, अन्य प्रकार के परम्परागत संस्कार और अन्य प्रकार के आचारों से उनकी वर्तमान सामाजिक प्रथा संगठित हुई है। उन लोगों से भिन्न प्रकार के परम्परागत संस्कारों से और हजारों वर्षों के कर्मों से हमें स्वभावतः अपने संस्कारों के अनुसार चलना पड़ेगा, हमें अपने ही कुओं में घुसना होगा और हमें ऐसा ही करना होगा।

तो मुझे किस प्रणाली से काम करना होगा? मैं प्राचीन महान आचार्यों के उपदेशों का अनुसरण करना चाहता हूं। मैंने उनकी कार्य-प्रणाली का अध्ययन किया है और जिस प्रणाली से उन्होंने कार्य किया उसका ही आविष्कार करना मुझे भी अभीष्ट है। वे समाज के बड़े संगठनकर्त्ता थे। उन्होंने विशेष भाव से शक्ति, पवित्रता और जीवन-शक्ति का संचार किया। उन्होंने बहुत से अद्भुत कार्य किये। हमें भी अद्भुत कार्य करने हैं। इस समय अवस्था कुछ बदल गई है, इसलिये कार्य-प्रणाली में बहुत थोड़ा ही परिवर्त्तन करना होगा और कुछ नहीं। मैं देखता

हूं कि प्रत्येक व्यक्ति की भांति प्रत्येक जाति का भी एक जीवनोद्देश्य है। वही उसके जीवन का केन्द्र है, वही उसके जीवन का प्रधान स्वर है, दूसरे स्वर उसीसे मिलकर ऐक्यतान उत्पन्न करते हैं। किसी देश में—जैसे इङ्गलैण्ड में राजनीतिक अधिकार ही जीवन-शक्ति है। कला कौशल की उन्नति करना किसी दूसरी जाति का प्रधान लक्ष्य है। ऐसे ही और दूसरे देशों का भी समझिये। किन्तु भारतवर्ष में धार्मिक-जीवन ही जातीय जीवन का केन्द्र स्वरूप है और वही जातीय-जीवन रूपी संगीत का प्रधान स्वर है। यदि कोई जाति अपनी स्वाभाविक शक्ति का जिसकी ओर कई शताब्दियों से उसकी गति हुई हो, परित्याग करना चाहती है और वह यदि अपनी चेष्टा में सफल होती है, तो उसकी मृत्यु हो जाती है। अतः यदि तुम धर्म को परित्याग करने की अपनी चेष्टा में सफल हो जाओ और राजनीति समाज-नीति या और किसी दूसरी चीज को अपनी जीवन-शक्ति का केन्द्र बनाओगे तो उसका फल यह होगा कि तुम एक बार्गी नष्ट हो जाओगे। ऐसा न हो, इसलिये तुम्हें अपनी धार्मिक शक्ति के द्वारा ही सब काम करना चाहिये। अपने स्नायु-समूह को अपने धर्म रूपी मेरुदण्ड से स्वर मिलाने दो। मैंने देखा है कि "सामाजिक जीवन पर उसका कैसा प्रभाव पड़ेगा" यह बिना दिखाये मैं अमेरिका निवासियों में किसी धर्म का प्रचार नहीं कर सकता था। मैं इङ्गलैण्ड में भी धर्म का प्रचार बिना यह बताये कि "वेदान्त के द्वारा कौन कौन आश्चर्यजनक राजनीतिक परिवर्त्तन हो सकेंगे," नहीं कर सका। इसी भांति भारतवर्ष में सामाजिक संस्कार का प्रचार तभी हो सकता है जब यह दिखा दिया जाय कि उस नई प्रथा से आध्यात्मिक जीवन की उन्नति में कौन सी सहायता मिलेगी। राजनीति

का प्रचार करने के लिये हमें दिखाना होगा कि हमारे जातीय जीवन की आकांक्षा—आध्यात्मिक उन्नति—में उसके द्वारा कितनी अधिक सफलता होगी। प्रत्येक आदमी अपना अपना मार्ग चुन लेता है, उसी भाँति प्रत्येक जाति भी। हमने कई युग पहले अपना पथ निर्धारित कर लिया, अब हमें उसीके अनुसार चलना होगा और हमारे निर्वाचित मार्ग को कोई बुरा भी नहीं कह सकता। क्या जड़ के बदले में चैतन्य और मनुष्य के बदले में ईश्वर की चिन्ता करना खराब रास्ता कहा जायगा? क्या परलोक में दृढ़ विश्वास, इस लोक के प्रति तीव्र घृणा, प्रबल त्याग-शक्ति तथा ईश्वर और अविनाशी आत्मा में दृढ़ विश्वास तुम लोगों में है? क्या कोई इसे छोड़ सकता है? तुम इसे नहीं छोड़ सकते। तुम जड़वादी होकर और जड़वाद की चर्चा करके हमें समझाने की चेष्टा कर सकते हो, पर मैं जानता हूं कि तुम क्या हो? यदि मैं तुम्हें समझाऊं तो तुम फिर भी वैसे ही आस्तिक हो जाओगे, जैसे आस्तिक तुम पैदा हुए थे। क्या तुम अपना स्वभाव बदल सकते हो?

सदसद्विचार शक्ति।

(अध्यापक इन्द्रदेव तिवारी, एम० ए०)

मनुष्य चाहे विद्वान् हो अथवा मूर्ख, भला हो अथवा बुरा, धनी हो या दरिद्र, उसके हृदय में एक ऐसी ज्योति होती है जो उसे बहकाकर कुपन्थ पर नहीं ले जाती, एक ऐसा पथप्रदर्शक अगुआ होता है, जो कभी भुलाकर दूसरी ओर नहीं ले जाता, एक ऐसी पुकार होती है जो कभी ठकुरसोहाती बात नहीं कहती। इस ज्योति, इस अगुवा अथवा अलौकिक पुकार को विवेक या सदसद्विचार शक्ति कहते हैं।

यदि बुद्धि को ऐसा घोड़ा मानें जो मनुष्य को ज्ञान की ओर ले जाता है, तो विवेक को उस घोड़े की रास कहना उचित है। यदि युक्ति को जहाज कहें जिस पर चढ़कर मनुष्य सत्य की खोज में चलता है, तो अन्तःकरण को "कम्पास" कहना चाहिये, जो सीधा रास्ता बतलाता है। इन्द्रियों से भ्रम हो सकता है परन्तु अन्तःकरण नहीं चूकता। वह सांसारिक पदार्थ नहीं, वह दिव्य है, स्वर्गीय है। जब राजा दुष्यन्त के मन में संशय हुआ कि ऋषि की बेटी शकुन्तला दूसरी जाति की स्त्री तो नहीं है, तब कविवर कालिदास अन्तःकरण की प्रेरणा द्वारा ही उनसे निर्णय कराते हैं।

"भयो जु मेरो शुद्ध मन, अभिलाषी या माहिं।
व्याहन क्षत्री जोग यह, संशय नेकहु नाहिं॥
होत कछू सन्देह जब, सज्जन के हिय आय।
अन्तःकरण प्रवृत्ति ही, देति ताहि निपटाय॥"

अब एक प्रश्न हो सकता है कि यदि छोटे से लेकर बड़े तक सभी में सदसद्विचार शक्ति है और वह सीधा मार्ग दिखाने में कभी भ्रम या प्रमाद नहीं करती, तो अधिक मनुष्य क्यों बहककर कुमार्ग पर चलते हैं? इसका सरल उत्तर तीन प्रकार से दिया जा सकता है। पहले तो—मनुष्य अच्छी तरह से ध्यान नहीं देते और बिना आगा पीछा सोचे अन्तःकरण की सूचना वा प्रेरणा नहीं मानते हैं। दूसरी बात यह है कि—मनुष्य के हृदय में बहुत सी वासनायें हैं, जैसे—तृष्णा, असंयम, अहंकार, मान इत्यादि—जो बड़ी मधुर और प्रिय जान पड़ती हैं। चापलूसी करना उनका काम है। जब उनका उदय होता है तब मानो आनन्द और सुख का द्वार खुल जाता है। इससे मनुष्य उनके पंजे में फँस जाता है। इसके विपरीत विवेक झिड़की देने में

बड़ा निठुर है। वह मीठी मीठी बातें कहकर सुख की नींद नहीं सुलाता, बल्कि कष्ट का सामना करने के लिये मनुष्य को कमर बाँधने पर उतारू कराता है। तीसरा कारण यह है कि— अन्तःकरण सब मनुष्यों को बड़े से बड़ा अधिकार पाने का सपना नहीं दिखाता। वह प्रत्येक मनुष्य को उसकी असली स्थिति में मानता है और एक पग आगे दिखला देता है।

इस प्रकार विवेक एक ऐसा गुरु है, जो कभी नहीं चूकता और जिसका प्रयत्न कभी व्यर्थ नहीं जाता। वह प्रत्येक मनुष्य को उसकी योग्यता के अनुसार शिक्षा देता है। वह सीधे साधे अनजान लोगों को मोटी मोटी बातें बतलाता और अधिक ज्ञानवान् और बहुश्रुत जनों को उनके अनुरूप कठिन कठिन पाठ पढ़ाता है। किसी पाठ को असावधानी से भूलने नहीं देता।

जहांतक मनुष्य सदसद्विचार की पुकार सुनता है वहांतक उत्तरोत्तर आध्यात्मिक उन्नति होती जाती है। और जहां उसने उसके ज्ञान का उल्लंघन किया कि अवनति आरम्भ हुई।

अन्तरात्मा को मनुष्य किसी प्रकार राजी नहीं कर सकता। जब उसकी इच्छायें उसको एक ओर खींचती हों और उसका विवेक दूसरी ओर, तब ऐसा नहीं हो सकता कि एक दूसरे को मान लें। समझौता होना असम्भव है। इस अवस्था में एक को मानना ही पड़ेगा और दूसरे का सर्वथा बलिदान करना होगा। सब से बढ़कर हतभाग्य वह मनुष्य है जो दोनों का अनुकरण करना चाहता है। विवेक की अवहेलना करके तृष्णा की बात मानने से बड़ी आत्मग्लानि होती है और साथ ही साथ पश्चात्ताप और क्लेश भी होने लगते हैं। परन्तु इच्छाओं की बात न मान कर अन्तरात्मा के अनुकूल कार्य्य किया जाय तो शक्ति दूनी हो जाती है, एक अद्भुत उत्साह होता है, अलौकिक बल-प्राप्ति

होती है और शान्ति तथा बल अनायास मिल जाते हैं। संसार के इतिहास में ऐसे कितने ही प्रसिद्ध वृत्तान्त हैं जिनसे यह बात सरल रीति से समझ में आ जाती है। धर्मशील मनुष्य अन्तःकरण की पुकार से उत्साहित होकर अकथनीय शारीर-यातना सहज में सह लेता है और प्राण जाने पर भी कर्त्तव्यमार्ग से कभी हटता नहीं है।

सच कहते हैं कि मनुष्य के अन्तःकरण में एक दिव्य ज्योति वर्त्तमान है। उसकी दिव्यता तो पूर्ण रीति से सिद्ध है, देखिये उसका पहला काम पाप के संपर्क से दूर रहने के लिये मनुष्य को चेतावनी देना और दुराचारी को भर्त्सना करना है। यह सबको एक प्रकार की चेतावनी नहीं देती। यह प्रत्येक अधिकारी की पात्रता के अनुसार अपने पथप्रदर्शन और दण्ड-विधान में तारतम्य या न्यूनाधिक्य कर लिया करती है। जो जिस योग्य है उसको वैसा ही दण्ड और वैसी ही सहायता देती है। क्या इसके न्याय से इसकी अलौकिकता नहीं सिद्ध होती है?

सदसद्विचार शक्ति की आज्ञा का उल्लंघन करने पर जो पीड़ा होती है उसे अनुताप या पछतावा कहते हैं। यह पीड़ा सामान्य नहीं, बड़ी भयानक है। यह एक ऐसी कराल ज्वाला है जो शरीर में व्याप्त होकर सत्ता को भस्मसात् करने लगती है। अनुताप वह नरक है "जहां की आग नहीं अघाती और कीड़े नहीं मरते।"

सदसद्विवेक मनुष्यों का एक ऐसा आभ्यन्तरिक गुरु है, जो मनुष्य जाति को धीरे धीरे पूर्णता और सत्यता की ओर ले जा रहा है। इसकी आज्ञायें थोड़े दिन के लिये भले ही दबा दी जायँ, न मानी जायँ, परन्तु एक दम नहीं टाली जा

सकती है। अपनी अलंघनीयता और व्यापकता से वह क्रमशः मनुष्य को वश में करके भलाई और सचाई की ओर झुका देता है। जो भाग्यशाली मनुष्य उसकी आज्ञा बिना आगा पीछा किये मानता है वह शीघ्रता से सत्यता, पूर्णता और पवित्रता की ओर बढ़ने लगता है और अन्त में सदाचार की उस सीमा तक पहुंच जाता है जहां न क्लेश के आक्रमणों का भय है, न अनुताप की ज्वाला का।

सामायिक प्रसंग।

("हिमारण्य")

भारतवर्ष में आजकल उन्नति की प्रबल चेष्टा हो रही है। स्त्री-पुरुष, लड़के-बूढ़े, धनी-निर्धनी सब किसी की हार्दिक इच्छा है कि हम भारतवासी फिर अपनी पूर्व गौरव छटा से जगत को स्तम्भित कर दें। यह भावना देश के अधिकांश लोगों के मन में बहुत जोर पकड़े हुए है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। यह उन्नति की सच्ची कामना देश की परम सम्पद् है। किसी जाति के सङ्गठित होने के लिये यह उद्देश्य की एकता परमावश्यक साधन समझी जाती है। पर केवल इस इच्छा मात्र से ही वह उन्नति हमारे हाथ न आयेगी; उसके लिये सब आदमियों को इकट्ठा होकर उद्देश्य के अनुरूप यत्न करना होगा। नहीं तो हमारी पुकार अरण्य-रोदन सी निष्फल हो जायगी।

* * *

व्यापक रूप से इस उन्नति को सिद्ध करने में एक मुख्य बाधा यह है कि भारतवर्ष एक विराट देश है। उसमें किसी विचार को एक छोर से दूसरी छोर तक फैलाने के लिये बहुत समय और उद्यम की आवश्यकता होती है। और एक बात इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है—वह है इस देश की अज्ञानता। अज्ञान के कारण भारतवर्षमें सैकड़ों नहीं,बल्कि हजारों धर्म और सम्प्रदाय तो हैं ही, फिर उसके साथ ही उस उदार भाव का वर्त्तमान समय में अभाव सा जान पड़ता है, जिसके प्रभाव से भिन्न भिन्न धर्मावलम्बी होते हुए भी एक दूसरे को अपना भाई समझने में नहीं चूकता। इसी कारण हमारे यहाँ जितने मनुष्य हैं उतने ही अलग अलग विचार पैदा हो गये हैं। यद्यपि इन अलग अलग मनुष्यों के समूह में एकता लाने का प्रयत्न करना ही एक दुःसाध्य व्यापार है, तो भी देश को एकता-सूत्र से बाँधने की चेष्टा सब किसीको करनी पड़ेगी; दृढ़ भाव से साधन करते करते सिद्धि एक न एक दिन हमारे भाग्य में आ ही जायगी।

* * *

देश में उद्देश्य की एकता रहते हुए भी क्यों सब कोई हिलमिल कर नहीं चल सकते? क्यों हरेक आदमी अपनी अपनी खिचड़ी अलग पकाने में ही अपनी भलाई समझता है? इसका उत्तर हमारे गुप्त या प्रकट अहङ्कार में ही ढूंढ़ना चाहिये। हम अपने अपने मत ही को सत्य और बाकी सब बातों को भ्रान्त समझते हैं। इसीलिये अगर हमें देश से भेदभाव मिटाना है तो हमें चाहिये कि हम अपने मत में पूरा विश्वास रखते हुए औरों के मतों के प्रति उचित सम्मान दिखावें, क्योंकि मूल सत्य,किसी एक खास प्रणाली से ही अपने को प्रकट नहीं

करता, उसके प्रकाश के हजारों पथ हैं। किसी को मिठाइयां पसन्द आती हैं तो किसी को नमकीन चीजें; पर यह बात नहीं कि केवल मिठाइयाँ ही सुखाद्य हैं या केवल नमकीन पदार्थ। अगर आपको किसी एक विशेष प्रकार का पदार्थ रुचिकर या सुपाच्य मालूम हो तो आप खुशी से उसीका उपयोग करें, लेकिन आपको यह अधिकार नहीं कि आप औरों को भी अपने वर्ग में खींच लें। समाज इसी उदारता के नियम के अनुसार ही चलता है। और जहाँ इसका व्यतिक्रम होता है वहीं अनर्थ की उत्पत्ति होती है।

* * *

अच्छा, तो जब अनेक मनुष्यों का समूह ही समाज है, और उसमें बहुत से मतमतान्तरों का रहना भी अनिवार्य है तब ऐसा क्यों नहीं किया जाय कि सब मुख्य मतों को इकट्ठा कर एक नवीन पूर्णाङ्ग मतवाला समाज गठित हो, जिसमें सब कोई शामिल हो सकें। उत्तर में यही कहना है कि यह उपाय सुनने में अच्छा होने पर भी वास्तव में असम्भव है। कारण यह कि समाज भी एक सजीव पदार्थ है, उसमें भी प्राण हैं, वह स्वाभाविक नियमवश पैदा होता और बढ़ता जाता है। जीव शरीर जैसे जगत के पदार्थों से अपना उपयोगी द्रव्य चुन लेता है, समाज भी वैसे ही अपनी पुष्टि करता है। उसके साथ मनमाना करने से या तो वह आपसे सम्बन्ध तोड़ देगा या स्वयं नष्ट हो जायगा। इन दोनों से अलग कुछ तीसरा उसके लिये है ही नहीं। जैसे हाथ, पाँव, सिर, आदि अङ्गों को साथ जोड़कर एक सजीव मनुष्य बनाया नहीं जा सकता, समाज की भी यही गति है। इसलिये इस Eceleticism या जोर-बटोर कर समाज बनाने की चेष्टा छोड़ देनी चाहिये।

* * *

मनुष्य-समाज किन किन नियमों पर चलता है, किन किन कामों से वह पुष्ट होता है और कौन कौन सी रीतियां उसे धक्का पहुंचाती हैं, यह सब बात जगत का सारा रहस्य देखने वाले ऋषियों के जिम्मे हैं। जो लोग समाज के उन गूढ़ बातों से प्रत्यक्षरूप से परिचित न होकर केवल अपने किताबी ज्ञान के सहारे सुधार के नाम से समाज में कुछ उलट फेर करना चाहते हैं वे केवल थोड़े या बहुत समय के लिये समाज में गड़बड़ी मचा देते हैं। इतिहास के पृष्ठों में ऐसे उद्यमों और उनके परिणामों के दृष्टान्त बहुत मौजूद हैं!

* * *

तो करना क्या है! जैसा कि ऊपर सूचित किया जा चुका है अपने मत में निष्ठा रखते हुए औरों के मतों को उदार दृष्टि से देखना होगा। जब तक वे प्रत्यक्षरूप से समाज की हानि पहुंचानेवाले न हों तब तक वे भी अच्छे माने जायँ। सम्भव है कि देश के कुछ लोग उन मार्गों से चल कर ही अपना और पराया कल्याण कर सकें। स्वामी विवेकानन्द जी इस प्रशस्त नीति के पूरे पक्षपाती थे। पाश्चात्य देशों से उनको यह शिक्षा मिली थी कि किस तरह मत में थोड़ा बहुत अन्तर रहने पर भी लोग एक साथ मेलजोल कर काम चला सकते हैं। पाश्चात्य लोग इकट्ठे होकर काम करना अच्छी तरह जानते हैं और इसी सङ्गठन-शक्ति के प्रभाव से उन्होंने इतना भौतिक प्रभुत्व जमा लिया है। देश या समाज की उन्नति के लिये नेता और जनता दोनों ही को गुणशाली होना चाहिये। स्वामी विवेकानन्दजी का कहना था—"सिरदार तो सरदार।" पूर्णतया निःस्वार्थ और प्रेमी होने से ही नेता अपनी उद्देश्यपूर्ति में सफल होंगे और जनता को नेता की आज्ञाकारिणी होना चाहिये। विचार में

थोड़ा अन्तर भले ही हो—ऐसा अन्तर रहना तो जीवन का चिह्न है—पर जिनको आपने एक बार समझ बूझकर नेता मान लिया, उनकी आज्ञा पर डटे रहना चाहिये। क्या धर्मराज्य में, क्या भौतिक जगत में, यही सच्चा मार्ग है। नहीं तो बात बात पर झगड़ते रहने से हमारा जीना ही असम्भव हो जायगा। जो भलीभांति टहल कर सकता है उसे ही एक दिन प्रभु का पद भी मिलता है। आजका साधारण सैनिक ही भविष्य में सेनापति का पद अलंकृत करेगा। कर्मयोग डङ्के की चोट घोषणा करता है कि कोई भी काम तुच्छ नहीं—जो मनुष्य छोटे से छोटा काम भी अच्छी तरह करता है वही महान गिना जाता है।

* * *

स्वामीजी के कथनानुसार, भारतवर्ष का मूलमन्त्र है त्याग और धर्म है उसका प्राण। इस धर्म को आदर्श रखकर हमको सब काम करना पड़ेगा। भारत की सामाजिक, आर्थिक और राष्ट्रीय सब उन्नति की नींव धर्म से ही है। जैसे जड़ में पानी सींचने से वृक्ष फूल और पत्तों में हराभरा हो जाता है वैसे ही हमारी सब चेष्टायें धर्म को पुष्ट करने से ही फलीभूत होंगी। प्रत्येक भारतवासी का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि वह प्रतिदिन अपने आप को धर्म के साधन में दक्ष बनावे। हमारे धर्मग्रन्थ अनमोल विचाररूपी रत्नों से भरे पड़े हैं। हमें उन रत्नों को खोद निकालना चाहिये और संसार के कामकाज में उनसे लाभ उठाना चाहिये। सारे जगत को ब्रह्म का ही रूप जानकर सब जीवों से—कमसे कम सब मनुष्य से सप्रेम बर्ताव करना चाहिये स्वयं ध्येय की ओर बढ़ते समय यह न भूलना चाहिये कि दूसरे भी उसी ओर चल रहे हैं। यह स्मरण रखना होगा कि बिना चरित्र-बल के कुछ भी काम स्थायी रूप से सिद्ध नहीं होता। पवित्रता, सहिष्णुता और अध्यवसाय—इन तीनों गुणों को स्वामी विवेकानन्दजी सफलता की कुञ्जी बताते थे। इन गुणों का अभ्यास हमें प्रतिदिन अपने चारों तरफ वर्तमान अज्ञान राशि को हटाते हुए करना होगा। हृदय में सेवा का भाव जमाये रखना होगा, भूखों को अन्न, नङ्गे को वस्त्र, मूर्ख को विद्या, बीमार को दवा और पथ्य तथा विपन्नको सहारा देते रहना होगा। बड़े खेदके साथ स्वामीजी को कहना पड़ा था कि हमारी अवनति का एक मूल कारण यही है कि हम शास्त्र पढ़ते समय अद्वैत की गम्भीर और मर्मस्पर्शी एकता के भाव में गोता लगाते हैं, पर कार्य्य-क्षेत्र में आकर उनको एकदम भुला देते हैं और कहते हैं कि वे "पारमार्थिक" सत्य हैं, "व्यवहारिक" जगत में उनके प्रयोग का अवकाश कहां! इस कपटता को दूर करना होगा। विज्ञान का छात्र अपनी पुस्तक से प्राप्त की हुई शिक्षा को तब तक पूरा नहीं समझता जब तक वे शिक्षायें प्रयोगशाला में अपने हाथों परख न ली जाय। वैसे ही धर्म-शास्त्र की शिक्षाओं को संसार-रूपी प्रयोगशाला में परखना चाहिये। तभी वे ठीक ठीक शिक्षायें कहलावेंगी। हमें प्रयोग कुशल(Practical)होना होगा।

वर्तमान भारत

[स्वामी विवेकानन्द]

(गतांक से आगे।)

मनुष्यों में जिसकी महिमा की तुलना नहीं है और जिस में देवत्व भी आरोपित है उसके भोग की वस्तुओं को देना तो दूर रहा उसकी ओर ताकना भी महा पाप है। राज-शरीर साधारण शरीर जैसा नहीं है, इसलिये उसे अशौच आदि दोष भी नहीं लगते। अनेक देशोंमें तो यह विश्वास है कि उस

शरीर की मृत्यु भी नहीं होती है। इसलिये "असूर्यम्पश्य रूपा" राज महिलायें परदों में रहा करती हैं जिस में जन साधारण की आंखें उनपर न पड़ें।

इस कारण पर्ण कुटियों के स्थान पर अट्टालिकायें बनीं और धुनियों और जुलाहों के कोलाहल की जगह मधुर संगीत आ डटायें सुहावनी वाटिकायें, चित्त हरनेवाले चित्र, मन हरनेवाली मूर्त्तियां, महीन रेशमी कपड़े, इन सबने धीरे २ पहाड़ जङ्गलों की प्राकृतिक सुन्दरता और विहातियों के खद्दरों का स्थान लिया। अनेक श्रमजीवी मनुष्य बुद्धिजीवी बने। लाखों खेतिहर खेतीके कठिन कामों को छोड़कर सैकड़ों कलाओं की ओर झुके। ग्राम का गौरव जाता रहा, नगर का नाम निकल पड़ा।

भारतवर्ष में अनेक राजा विषय भोग से ऊबकर अन्त में जङ्गलों में चले जाया करते और वहां रहकर अध्यात्म विषय की आलोचना किया करते थे। इतने भोगों के बाद वैराग्य आवेहीगा। वैराग्य और गम्भीर दार्शनिक चिन्ता से अध्यात्म तत्व में एकान्त अनुराग और मन्त्रबहुल क्रिया काण्ड से अत्यन्त घृणा उत्पन्न होती थी, जिनका समर्थन भी उपनिषद्, गीता, एवं जैन और बौद्ध धर्म ग्रन्थ पूरी तरह करते हैं। यहांपर फिर पुरोहित-शक्ति और राजशक्तिमें कलह उपस्थित होता था। कर्मकाण्डके लोप होनेसे पुरोहितोंका वृत्तनाश होताथा और इसलिये उसकी रक्षा करना पुरोहितोंके लिये स्वाभाविक था। पर जनक जैसे बाहुबल और आध्यात्मबल सम्पन्न राजा उसके विरोध के लिये खड़े भी रहते थे।

जिस प्रकार पुरोहित लोग सारी विद्याओं को अपने में ही रखना चाहते थे, उसी प्रकार राजा लोग भी समस्त पार्थिव शक्तियों को अपने में ही रखने का यत्न करते थे। इन दोनों ही

से निःसन्देह लाभ है। दोनों ही यथासमय समाज के कल्याण के लिये आवश्यक हैं; पर समाज के बचपन में, जवानी में नहीं। जवानी के शरीर में समाज को बलपूर्वक लड़कपन के कपड़े पहराने से यह या तो अपने तेज से उसे फाड़कर आगे बढ़ता है या धीरे धीरे फिर असभ्यावस्था को प्राप्त होता है।

राजा अपनी प्रजा का माता पिता है। प्रजा उसकी सन्तान है। प्रजा को पूरी तरह राजाश्रित रहना चाहिये और राजा को भी निष्पक्ष भाव से प्रजा का पुत्र की तरह पालन करना चाहिये। परन्तु जो विषय घर घर के लिये उपयुक्त है वही सारे समाज के लिये भी लागू है। समाज घरों की समष्टि मात्र है। जब पुत्र १६ वर्ष का हो जाय तो पिता को उसके साथ मित्र की भांति बरताव करना चाहिये। जब यही नियम है, तो समाज क्या १६ वर्ष की अवस्था कभी प्राप्त ही नहीं करता है? इतिहास इस बात का साक्ष्य देता है कि प्रत्येक समाज किसी समय जवान अवश्य होता है और इसी समय शासकों और शासित जनता में कलह उपस्थित होता है। इसी युद्ध के परिणाम पर समाज का जीवन, उसका विकाश और उसकी सभ्यता निर्भर है।

यह विप्लव भारतवर्ष में बार बार हुआ है, पर धर्म के नाम से। यह देश धर्मपरायण है। धर्म ही इसकी भाषा और सब उद्योगों का चिह्न है। चार्वाक, जैन, बौद्ध, शङ्कर, रामानुजी, कबीरपन्थी, गौड़ीय, ब्राह्म समाज, आर्य समाज आदि सभी सम्प्रदायों में धर्म की तरङ्गें सामने गरजती हैं और सामाजिक अभावों की पूर्त्ति उनके पीछे है। यदि कुछ अर्थहीन शब्दों के उच्चारण से ही सारी कामनायें सिद्ध होती हैं, तो कष्टसाध्य उपाय अपनी इष्ट-सिद्धि के लिये कौन अवलम्बन करेगा? और

यदि यह रोग सारे समाज-शरीर में प्रवेश कर जाय तो समाज उसी समय उद्यमहीन होकर सत्यानाश हो जायगा। इसी लिये प्रत्यक्षवादी चार्वाकों के कटु वचन व्यवहृत होने लगे। पशुमेध, नरमेध, आदि कर्मकाण्डों के भार से समाज का उद्धार सदाचारी और ज्ञानाश्रयी जैनों के अतिरिक्त कौन कर सकता था? बलवान अधिकारी जातियों के दारुण अत्याचार से दीन हीन मनुष्यों को बौद्धों के अतिरिक्त कौन बचा सकता था। कुछ समय के बाद जब बौद्ध धर्म का सदाचार अनाचार में परिणत हुआ और साम्यवाद की अधिकता से उस सम्प्रदाय में आये हुए बर्बर जातियों के पैशाचिक नाच से समाज काँपने लगा, तब पूर्व भाव को फिर स्थापित करने के लिये शङ्कर और रामानुज ने पूरा प्रयत्न किया। फिर कबीर, नानक, रामदास, चैतन्य, ब्राह्म समाज और आर्य समाज का यदि जन्म न होता तो भारत में इस समय हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों और ईसाइयों की संख्या निःसन्देह अधिक होती।

अनेक धातुओं के बने शरीर और अनन्त भाव तरङ्गवाले मन के लिये खाद्य पदार्थ के ऐसा कौन उत्तम उपादान है? पर जो खाद्य शरीर और मन की पुष्टि के लिये इतना आवश्यक है, उसका शेषांश (मल मूत्र) यदि उचित समय पर शरीर से बाहर न निकाल दिया जाय तो वही सब अनर्थों का कारण होता है।

समष्टि (समाज) के जीवन में व्यष्टि (व्यक्ति) का जीवन है। समष्टि के सुख में व्यष्टि का सुख है। समष्टि के बिना व्यष्टि का अस्तित्व ही असम्भव है। यह सत्य ही नहीं जगत का मूल आधार है। अनन्त समष्टि के साथ सहानुभूति रखना

उसके सुख में सुख और उसके दुख में दुख मानकर धीरे धीरे आगे बढ़ना व्यक्ति का एक मात्र कर्तव्य है। कर्तव्य ही क्यों! इस नियम का उल्लंघन करने से उसकी मृत्यु होती है और उसका पालन करने से वह अमर होता है। प्रकृति की आँखों में धूल डालने का सामर्थ्य किसको है? समाज की आँखें बहुत दिनों तक बन्द नहीं की जा सकती हैं। समाज के तल पर कितना ही कूड़ा कर्कट क्यों न इकट्ठा हो गया हो, परन्तु उस ढेर के नीचे प्रेमस्वरूप निःस्वार्थ सामाजिक जीवन का प्राणस्पन्दन होता ही रहता है। सहनशीला पृथ्वी की भांति समाज भी बहुत सहता है। परन्तु एक न एक दिन वह जागता ही है और तब उस जागृति से युगों की इकट्ठी हुई धूल और स्वार्थपरता दूर जा गिरती है।

हम लोग पाशविक प्रकृति के अज्ञानी मनुष्य लाखों बार ठगे जाकर भी इस महान् सत्य में विश्वास नहीं रखते। हम लोग ठगने की चेष्टा करते हैं पर आप ठगे जाते हैं। हम लोग पागलों की तरह कल्पना करते हैं कि प्रकृति को भी हम लोग धोखा दे सकते हैं। हम लोग अल्पदर्शी मनुष्य समझते हैं कि स्वार्थ साधन ही जीवन का मूल उद्देश्य है।

विद्या, बुद्धि, धन, जन, बल जो कुछ प्रकृति हम लोगों के पास इकट्ठा करती है वह फिर बांटने के लिये है। यह बात स्मरण नहीं रहती, सौंपे हुए धन में आत्मबुद्धि हो जाती है और उस पर अपनी मुहर लगा दी जाती है। बस इसी प्रकार सत्यानाश का सूत्रपात होता है।

राजा जो प्रजा-समष्टि का शक्तिकेन्द्र है, शीघ्र भूल जाता है कि शक्ति उसमें इसलिये सञ्चित हुई थी कि फिर उसका

प्रसार हो। राजा वेण* की तरह वह सब देवत्व अपने में आरोपित कर दूसरों को हीन समझने लगता है। उसकी इच्छा का, चाहे वह भली हो या बुरी, विरोध करना ही महापाप है। इसलिये पालन की जगह पीड़न और रक्षण की जगह भक्षण होने लगता है। यदि समाज बलहीन रहा तो वह सब कुछ सह लेता है और राजा और प्रजा दोनों ही हीन से हीनतर अवस्था को प्राप्त होते हैं और किसी दूसरी बलवान जाति के शिकार बनते हैं। और यदि समाज बलवान रहा तो शीघ्र ही राजा और प्रजा में घोर कलह उपस्थित होता है, जिसकी प्रतिक्रिया से छत्र, दण्ड, चंवर, आदि चूर चूर होकर दूर जा गिरते हैं। सिंहासन और अन्य राज्य सामग्रियां 'कौतुकागार की गेलरी'× पर रखी जाती है और तब से उनकी गणना पुरानी अनूठी वस्तुओं में होने लगती है।

जिस शक्ति की भौंहें टेढ़ी होने पर महाराज भी थर थर कांपता है, जिसके हाथ के रुपयों की आशा से राजा से रंक तक बगुलों की भांति पाँति बांधे सिर झुकाये पीछे पीछे चलते हैं, उसी वैश्य-शक्ति का विकाश पूर्वोक्त प्रतिक्रिया का फल है।

(क्रमशः)

अनुवादक—श्रीरघुनाथ सहाय।

---

* राजा वेण—इसकी कथा भागवत में आई है। यह अपने को ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओं से भी अधिक श्रेष्ठ बतलाता था। इसने यह आज्ञा दे रखी थी कि पूजा मेरी ही हो। एक समय ऋषि लोग इसके पास इसे कुछ सदुपदेश देने आये जिसमें इसका अहंकार दूर हो; पर इस मदान्ध राजा ने उनका तिरस्कार किया और उन्हें भी अपनी पूजा करने की आज्ञा दी। इसपर उन ऋषियों को अत्यन्त क्रोध हुआ और उसी क्रोधानल में पड़कर राजा पंचत्व को प्राप्त हुआ।

× Museum gallery

श्रीस्वामी ब्रह्मानन्दजी की महासमाधि।

भगवान श्रीरामकृष्ण देव के मानसपुत्र श्रीरामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष श्रीमहाराज स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने गत १० अप्रेल की रात को ८ बजकर ५५ मिनट पर महासमाधि लेकर देह त्याग किया। स्वामी ब्रह्मानन्दजी देश की कितनी बड़ी आध्यात्मिक सम्पत्ति थे, इसका अनुमान वे लोग ही कर सकते हैं जिनको एक क्षण भी उनके चरणकमलों की सेवा करने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ है।

आप श्रीरामकृष्ण संघ के स्थापित होने के समय से ही उसके अध्यक्ष थे और अपने जीवन के अन्त तक उस पद पर प्रतिष्ठित रहे। यदि कहा जाय कि स्वामी विवेकानन्दजी संघ के संस्थापक तथा जीवन थे, तो यह कहना अनुचित न होगा कि स्वामी ब्रह्मानन्दजी उसके मस्तिष्क थे। आपके ही पथ-प्रदर्शन में संघ ने समस्त भारतवर्ष और अन्य देशों में अपने महत् कार्य का प्रचार किया।

आपका स्वभाव प्रस्फुटित वसन्त ऋतु के समान था। आप सदा प्रफुल्लित रहा करते थे, आपमें जो मधुरिमा तथा आनन्द वर्त्तमान थे, वे आपके आध्यात्मिक सम्पत्ति थे, पाश्चात्य देशों की तरह पार्थिव सम्पत्ति नहीं थे। प्रत्येक मनुष्य के प्रति आप समवेदना प्रकाश करते थे। जहां कहीं आप जाते अपने साथ प्रफुल्लता ले जाते और दुःख शोक तथा निराशा का भाव कभी नहीं ले जाते थे।

आपने दूसरों की तरह कभी प्रचार कार्य नहीं किया। आपका जीवन ही लोगों की शिक्षा का आदर्श था। आपकी शिक्षा

मनुष्यों में अन्तर्निहित भावों के विकाश के लिये होती थी, न कि उन भावों को नष्ट कर निज निर्दिष्ट मार्ग पर चलाने के लिये। आप वैयक्तिक विकाश के पक्षपाती थे।

मनुष्य के आभ्यन्तरिक भावों का पर्यवेक्षण करने की आपमें विलक्षण शक्ति थी। सत्य के अन्वेषण में जिन पुरुषों ने अपना जीवन व्यतीत किया है उनकी स्वाभाविक विशेषताओं पर विचार करने के लिये आपके गुरुभाई तक भी आपकी सहायता की प्रार्थना करते थे। इस विषय में आपका निर्णय सर्वश्रेष्ठ होता था। भ्रमवश कभी २ लोग आपके सरल तथा प्रफुल्ल स्वभाव के कारण यह समझकर आपके निकट से दूर हो जाते थे कि आपमें कोई गम्भीर गुण नहीं हैं; पर ऐसे लोग आपकी महत्ता को नहीं समझ सके थे। आपकी नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति तथा कार्यकुशल बुद्धि के कारण ही आज श्रीरामकृष्ण संघ को समस्त भारतवर्ष के पुण्यकार्यों में इतना ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ है।

मानव-जाति पर आपका अगाध प्रेम था। मानव-समाज के मङ्गल के लिये आपमें तीव्र उत्कण्ठा बनी रहती थी। आप प्रकृति की सुन्दरता के उपासक थे। उद्यान के काम में, गृह-निर्माण-कला में तथा सङ्गीत में आप बड़ा आनन्द लेते थे। आप सब प्रकार के सौन्दर्य के ज्ञाता थे और प्राकृतिक सौन्दर्य की गुणविवेचना करने में अद्वितीय थे। यद्यपि आप अद्वैतवादी थे तथापि पूजा के उत्सवों में बड़ा आनन्द प्राप्त करते थे।

* * *

सन् १८८१ ई० में श्रीरामकृष्ण देव के लीला सहचर भक्त वृन्द एक एक कर उनके निकट उपस्थित होने लगे। कहा जाता है कि श्रीरामकृष्ण संघ के सुपरिचित स्वामी ब्रह्मानन्दजी श्रीराम-

कृष्ण देव के पास सबसे पहले आये थे। आपका जन्म बसीर-हाट, २४ परगने में १८६२ में हुआ था। पहले आपका नाम राखालचन्द्र था। आपका विवाह परमहंस देव के भक्त मनमोहन मित्र की बहिन के साथ हुआ था; पर विवाह होने के थोड़े ही दिन बाद आप श्रीरामकृष्ण देव के पास चले आये। आपके वहां पहुंचने पर श्रीरामकृष्ण देव ने कहा, "राखाल के आने के कई दिन पहले देखा है कि श्रीश्रीकालीमाता ने लाकर एक बालक को मेरी गोद में बैठा दिया और कहा यही तुम्हारा पुत्र है। इसको सुनकर डर से कांपकर मैंने कहा, यह क्या! मेरा लड़का कैसा? इसपर उन्होंने हंसकर समझा दिया कि सांसारिक भाव का पुत्र नहीं, किन्तु त्यागी मानसपुत्र है। यह सुनकर मेरी तबियत ठीक हुई।" इसके बाद ही राखाल के आने से श्रीरामकृष्ण देव ने समझा कि यह वही बालक है।

राखाल के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण देव ने समय समय पर अपने भक्तों से कहा था कि "वह ऐसी हालत में था जिससे ठीक तीन चार वर्ष का बालक जान पड़ता था। वह मुझसे ठीक माता की तरह प्रेम करता था, रह रह कर सहसा दौड़कर आता और मेरी गोद में बैठ जाता था। घर जाने की बात तो दूर रही वह मेरे निकट से एक पैर भी इधर उधर नहीं टलना चाहता था। शायद उसका बाप उसे फिर यहां न आने दे, यह समझ कर, बहुत समझा बुझाकर एक बार उसे उसके घर भेज दिया करता था। राखाल एक जमींदार का लड़का था, उसके पिता के पास अगाध सम्पत्ति थी किन्तु वह बड़ा कंजूस था। पहले तो उसने बड़ी चेष्टा की; कि उसका पुत्र यहां न आवे; पर जब उसने देखा कि यहां धनी और विद्वान भी आते हैं तब उसको अपने पुत्र के यहां आने में विशेष आपत्ति न रही। अपने

लड़के के लिये वह भी कभी कभी यहां आया करता था। उस समय राखाल के लिये उसका विशेष आदर और यत्न करके उसे मैं सन्तुष्ट कर दिया करता था।

"किन्तु राखाल के ससुरालवाले उसके यहां आने में कोई आपत्ति नहीं करते थे, कारण कि मनमोहन की मां स्त्री बहिन आदि सभी यहां आया जाया करते थे। राखाल के यहां आने के कुछ दिन बाद मनमोहन की मां राखाल की बालिका वधू को साथ लेकर यहां आई। राखाल की स्त्री को देखकर मेरे मन में आया कि स्त्री के संसर्ग से राखाल की ईश्वर भक्ति में हानि तो न होगी ? यह सोचकर उसको नजदीक बुलाकर सिर से पैर तक उसके शरीर की बनावट को एक एक करके देखा और समझा कि भय का कारण कुछ भी नहीं है। दैविक शक्ति स्वामी के धर्म-पथ में कभी भी बाधक न होगी। मेरे साथ रहने पर राखाल अपने को भूल जाता था और उसमें बालक स्वभाव का इतना आवेश हो जाता था जिसका वर्णन करना कठिन है। उसे जो कोई ऐसी अवस्था में देखता वही आश्चर्य में पड़ जाता। मैं भी तन्मय होकर राखाल को मक्खन मलाई खिलाता और कई बार कन्धे पर भी रख लेता था ; पर राखाल को जरा भी संकोच नहीं होता था। उस समय मैंने कहा था कि बड़ा होकर जब राखाल स्त्री के साथ एकत्र वास करेगा, तब उसका यह सरल बालक स्वभाव न रह सकेगा। बदमाशी करने पर मैं राखाल को दण्ड भी देता था। एक दिन मन्दिर से मक्खन का प्रसाद आया था, राखाल ने भूख के मारे उसे बिना आज्ञा लिये ही खा लिया। इस पर राखाल को डांटकर मैंने कहा तू तो बड़ा लोभी है, यहां आकर कहां तुझे लोभ को त्याग करने की चेष्टा

करनी चाहती थी, उलटे तूने बिना पूछे ही मक्खन खा लिया। यह सुनकर राखाल भय के मारे कांप गया और फिर कभी उसने वैसा नहीं किया। राखाल के मन में उस समय लड़कों की स्वाभाविक हिंसा भी थी, क्योंकि उसके सिवाय जब कभी मैं किसी दूसरे बालक को प्यार करता तो उसे वह सह नहीं सकता था। अभिमान से उसका मन पूर्ण हो जाता था, जिससे कभी कभी मेरे मन में यह भय होता था कि मां जगदम्बा जिन लोगों को यहां लाती हैं उनसे हिंसा करने के कारण कहीं राखाल का अनिष्ट न हो।

"यहां आने के तीन वर्ष बाद राखाल कुछ बीमार होने के कारण बलराम × के साथ वृन्दावन गया। उसके कुछ दिन पहले ही मैंने देखा था कि मां चाहती है कि राखाल यहाँ से चला जाय, उस समय मैंने व्याकुल होकर प्रार्थना की थी, कि 'मां यह (राखाल) लड़का है, बुद्धि नहीं है, कभी कभी अभिमान कर बैठता है। इसलिये यदि उसे कुछ दिनों के लिये यहां से हटाने की आवश्यकता हो तो ऐसे स्थान में रखना जहां वह प्रसन्न रहे।' इसके थोड़े ही दिन बाद वह वृन्दावन गया था। वृन्दावन में रहने के समय राखाल की तबियत खराब है, यह सुनकर कितनी चिन्ता हुई थी, यह मैं नहीं कह सकता, कारण इसके पहले ही मां ने मुझे दिखा दिया था कि राखाल सचमुच व्रज का राखाल * है। जो जहां से आकर शरीर धारण करता है वह वहां जाने पर अपनी पूर्व कथा स्मरण कर शरीर त्याग देता है। इसी लिये भय हुआ था कि कहीं वृन्दावन में राखाल शरीर न छोड़ दे। उसके कल्याण के लिये मां से अनेक बार प्रार्थना

× श्रीरामकृष्ण देव का एक गृहस्थ भक्त।

* राखाल का अर्थ है वृन्दावन का रखवाला, व्रजबालक।

की और उन्होंने अभय दान का आश्वासन भी दिया। इसी भांति राखाल के सम्बन्ध में माँ ने कितने ही दृश्य दिखाये, पर उन सब बातों को कहने का निषेध कर दिया।"

* * *

विगत वर्ष के आरम्भ में दक्षिणी प्रान्तों में अपनी अन्तिम तथा दीर्घ यात्रा के पश्चात् आप बङ्गदेश को वापस आये। किसी ने भी आपमें किसी प्रकार का रोग नहीं पाया था, केवल कई वर्ष पूर्व आपको कुछ समय के लिये बहुमूत्र रोग ने सताया था। अकस्मात् अब आप कलकत्ते में ५७, रामकान्त बोस स्ट्रीट, बागबाजार में ठहरे हुए थे, तो गत २४ ता० मार्चको आपमें विसूचिका रोग के लक्षण दिखलाई दिये। कुछ ही दिनों के अन्दर रोग बहुत बढ़ गया। यद्यपि पहले पहल कुछ दिनों तक आशा वर्तमान थी पर शीघ्र ही बहुमूत्र रोग की शिकायतों ने जोर पकड़ा और अवस्था शीघ्रता से बिगड़ने लगी। कई नामी ऐलोपैथी तथा होमियोपैथी के डाक्टरों ने तथा कविराजों ने इलाज किया, पर कुछ फल न हुआ। आपके शिष्यों का सन्देह इस बात से और भी बढ़ गया कि शरीरान्त होने के तीन दिन पहले अकस्मात् आश्चर्यजनक रूप से आपमें आत्मचैतन्य की मात्रा बढ़ गई। आधी रात को एकाएक आपने अपने सभी सन्यासी शिष्यों को अपने पास बुलाकर बैठाया और अद्भुत प्रेम से मतवाले होकर गद्गद स्वर में दिलासा देनेवाली बातें करने लगे। इसके बाद आपने स्वामी सारदानन्दजी को बुलाया। इसी बीच में बोलने लगे कि "मेरे विवेक! विवेक! भाई विवेकानन्द!" "बाबूराम * को पहचानता हूं और श्रीरामकृष्ण के चरण-कमलों को

* बाबूराम—स्वामी प्रेमानन्द श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रधान सन्यासी शिष्य थे। आपका देहावसान १९१८ ई० में हुआ।

भी जानता हूं।" इसके बाद स्वामी सारदानन्द के आने पर बोले कि "भाई शरत, आ गये—मेरे ब्रह्म वेदान्त में तो गड़बड़ी पड़ गई। तुम तो ब्रह्मविद्या जानते हो, बताओ तो क्या है?" शरत महाराज बोले कि "गड़बड़ी कैसी? श्रीरामकृष्ण देव ने तो आपका सब कुछ कर दिया है।" इसपर आप बोल उठे कि "मैं तो प्रायः पहुंच गया, थोड़ा सा बाकी है—ब्रह्मतिमिर!" 'Light of heaven'—"देखो देखो यह भी खूब ही सुन्दर है, यह भी भगवान का एक भाव है। चलो, चलो"। शरत महाराज लौट कर आकर बोले कि "आप लेमोनेड पीकर सो रहें।" इसपर आप बोल उठे कि "मन तो ब्रह्मलोक में है। वह नीचे नहीं आना चाहता।" इसके थोड़ी देर बाद ही बोल उठे कि "अहा हा! ब्रह्म समुद्र! ॐ परब्रह्मणे नमः! ॐ परमात्मने नमः! अब विश्वास के पत्ते पर मैं बह चला। अहा हा!"'

जिस समय आप ऐसी बातें कर रहे थे। उस समय मानो सच्चिदानन्द सागर के शान्त शीतल स्पर्श से वहां एकत्रित सन्यासी मण्डली के हृदय भी शान्त और शीतल हो रहे थे। श्रीरामकृष्ण देव आपके सम्बन्ध में जो बहुत सी गुप्त बातें अपने भक्तों से कह गये थे और जो अब तक आपको मालूम नहीं थीं उन्हें भी अब आप प्रकाश करने लगे। आप कहने लगे कि "देखो, देखो! कृष्ण आया, मेरे पैर में कड़ा पहना दो मैं अब उसका हाथ पकड़ कर झूम झूम कर नाचूंगा। मैं तो ब्रज का राखाल हूं। एक बहुत छोटे बालक ने अपने नन्हें नन्हें कोमल हाथ मेरे शरीर पर फेर कर कहा, 'चले आओ, चले आओ,' तुम लोग हटो, मैं चला, ॐ विष्णुः ॐ विष्णुः।" महाराजजी रात भर इसी प्रकार के शब्द उच्चारण करते रहे, उन सबको यहां उद्धृत करना कठिन है। जो लोग उस रात को उनके निकट थे, उन्होंने भली

भांति समझ लिया कि उन्हें निरन्तर ईश्वर के दर्शन हो रहे हैं। उनके चेहरे पर कष्ट का कोई चिह्न नहीं दिखाई देता था। उनका मुँह प्रकाशमान और आनन्दमय था।

वह रात्रि कभी उन लोगों से नहीं भूली जा सकती, जो उस समय आपके बिस्तर के पास बैठे थे। यह एक ऐसी रात्रि थी जब आत्मा का सूर्य उज्ज्वलतम रूप से प्रकाशित हो रहा था और सब नक्षत्र उसके सामने म्लान दिखलाई देते थे।

दूसरे दिन रोग की अवस्था और भी विकट हो गई। जितनी चेष्टायें की जा सकती थीं, सब की गईं; पर महाआह्वान आ गया था और उनकी आत्मा ने नश्वर शरीर को १० अप्रैल को रात के ८ बजकर ५५ मिनट पर त्याग दिया। आवरण यद्यपि थोड़े समय के लिये खुला था, तथापि प्रत्येक व्यक्ति ने एक महत् आत्मा को जो प्रकाश तथा पवित्रता से उज्वल थी गमन करते हुए देखा, वह आत्मा सच्चिदानन्द-रस से पूर्ण थी, तथा उन्नत, सुदृढ़ विजयात्मक भावों से भरी हुई थी। शेष रात्रि धर्मशास्त्र के श्लोकों की आवृत्ति करने, भजन गाने तथा आरती करने में बिताई गई। आपकी देह पुष्प माल्य चन्दन-सुगन्धि से सुन्दर रूप से सज्जित की गई।

दूसरे दिन प्रत्यूष के समय बेलूड़ मठ की ओर एक बड़ा जुलूस निकला। आपके शिष्य, भक्त, मित्र तथा गुरु-भाइयों के सामने आपके पवित्र देह को नहलाकर श्रीलएड की अर्थी में बेलूड़ मठ के गङ्गातीर पर भस्म किया गया।

स्वामी ब्रह्मानन्द जी चले गये हैं, पर उनकी स्मृति उन लोगों के हृदय-मन्दिर में सदा के लिये अक्षय बनी रहेगी, जो उनके चरणों की सेवा करते थे और उनके मुख से निर्गत महावाक्यों को श्रद्धा से सुनते थे, जिन लोगों में उन्होंने तनिक भी आध्यात्मिक उन्नति, नैतिक प्रवृत्ति, त्याग, तपस तथा सत् की ओर उत्तेजना की जागृति की थी, उनके भी हृदय-मन्दिर में उनकी मूर्ति चिरकाल तक विराजेगी।

ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।

विविध विषय।

स्वामी विवेकानन्दकी जयन्ती।

सान फ्रानसिस्को, अमेरिका

गत २२ जनवरी १९२२ रविवार को सान फ्रानसिस्को के हिन्दू मन्दिर में स्वामी विवेकानन्दजी की ६० वीं जयन्ती बड़े भक्तिभाव और उत्साह से मनाई गई; इस अवसर पर हिन्दू मन्दिर सुन्दर सुन्दर पुष्पों से भली भांति सजाया गया था। धूप अपने सुगन्ध से लोगों के मन को प्रफुल्लित कर रही थी, मानो उत्सव की पवित्रता का सन्देश सब लोगों तक पहुंचा, उनके मन को अतिशय भावमय बना रही थी।

स्वामी प्रकाशानन्दजी ने दो विशेष व्याख्यान दिये। प्रातःकाल के व्याख्यान का विषय था,—'जगत् की शिक्षा में स्वामी विवेकानन्द का दान।' सायंकाल का विषय था,—'स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों का सार्वभौमिक मूल सिद्धान्त।' दोनों समय बहुत से सुप्रतिष्ठित सज्जन स्वामीजी की पवित्र स्मृति के रक्षार्थ तथा सम्मान प्रकाशनार्थ उत्सव में सम्मिलित हुए थे। वेदान्त के उन गूढ़ सिद्धान्तों को, जिनकी उपलब्धि स्वामी विवेकानन्दजी ने अपने जीवन में की थी, स्वामी प्रकाशानन्दजी ने भली भांति श्रोताओं को समझाया। स्वामीजी ने अपने व्याख्यान में महापुरुषों की जयन्ती मनाने की आवश्यकता तथा महत्व समझाया और इस बात पर विशेष जोर दिया, कि लोग इन महापुरुषों के आदर्शों को अपने जीवन का लक्ष्य बनावें और उसीके अनुसार अपने दैनिक जीवन में कार्य करें।

कुआला लामपुर, मलाया स्टेट।

गत २२ जनवरी १६२२ रविवार को स्थानीय विवेकानन्द आश्रम में स्वामी विवेकानन्दजी की ६० वीं जयन्ती मनाई गई। स्वामीजी का एक बड़ा चित्र खूब अच्छी तरह सजाकर हाल में मञ्च पर रखा गया था। प्रातःकाल नगर के भिन्न भिन्न भागों से आये हुए लोगों ने भजन गाये। मण्डप में प्रायः ४००० दरिद्र नारायणों को अच्छी अच्छी चीजें खिलाई गईं। गरीबों को जिनमें चीन निवासी भी शामिल थे कपड़े बांटना इस वर्ष के उत्सव की खास विशेषता थी। संध्या समय ७ बजे श्रीयुत टी० आर० सुब्रह्मण्य ऐयर के सभापतित्व में एक सार्वजनिक सभा हुई। श्रीयुत एस० वीरस्वामी बैरिस्टर ने स्वामीजी के जीवन तथा उपदेशों, उनकी महत्ता तथा उद्देश्य पर बड़ा ही मर्मस्पर्शी भाषण किया। आपने अपने भाषण के अन्त में कहा कि सबसे बड़ी बात जो स्वामीजी ने की है वह द्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा अद्वैत दर्शन शास्त्रों के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों के भेदों को दूर करना है; ये तीनों मानव आत्मा के विकाश की भिन्न भिन्न अवस्थायें हैं। इनमें अद्वैत ही लोगों का अन्तिम ध्येय रहता है। श्रीयुत् एस० वैलियलिंगम ने भी तामिल भाषा में भाषण किया और स्वामीजी के जीवन की बहुत सी बातें विस्तारपूर्वक समझाईं।

कुआला लामपुर के विवेकानन्द आश्रम के अध्यक्ष स्वामी विदेहानन्दजी ने सभापति, वक्ताओं तथा श्रोताओं को धन्यवाद दिया और उपस्थित श्रोताओं को बताया कि स्वामीजी के उपदेशों में एक मुख्य उपदेश—"आत्मा का महात्म्य" है। स्वामीजी का जन्म मानों इसी की शिक्षा के लिये हुआ था।

विवेकानन्द सोसायटी का वार्षिक अधिवेशन।

गत २७ फरवरी १६२२ सोमवार को स्थानीय स्टार थियेटर में श्रीयुक्त स्वामी अभेदानन्दजी के सभापतित्व में विवेकानन्द सोसायटी का वार्षिक अधिवेशन बड़े समारोह से मनाया गया। व्याख्यान-भवन श्रोताओं से ठसाठस भरा था। स्थानाभाव के कारण बहुतों को निराश होकर लौट जाना पड़ा।

कार्यारम्भ में वैदिक प्रार्थना की गई, इसके बाद धार्मिक गान गाये गये। तत्पश्चात् संस्कृत साहित्य परिषद् के पण्डित कालीपद तर्काचार्य ने धारा प्रवाह संस्कृत में एक मर्मस्पर्शी भाषण दिया और स्वामीजी के जीवन के सम्बन्ध में एक कविता पढ़ी। श्रीयुक्त एम० ए० नारायण आयंगर, डाक्टर मोरेनो तथा श्रीयुक्त अमृतलाल बोस आदि के व्याख्यान हुए। सभी वक्ताओं ने सनातन धर्म की महत्ता तथा श्रीरामकृष्ण देव और उनके स्वनाम धन्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द के द्वारा की गई सनातन धर्म की उन्नति को भली भांति समझाया। श्रीमत् स्वामी अभेदानन्दजी ने प्रायः एक घण्टे तक भाषण किया और अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण देव के जीवन की मनोहर घटनाओं का विशद वर्णन किया।

अमेरिका में वेदान्त प्रचार।

बोस्टन वेदान्त सोसायटी के अध्यक्ष स्वामी परमानन्द जी ने गत १२ फरवरी को ओहियो में व्याख्यान दिया। १३ तारीख को क्लिवलैण्ड में अप्लाइड साइकालोजी क्लब में भाषण देकर दूसरे दिन वहीं क्लब के सदस्यों के प्रश्नों की आपने मीमांसा की। बुधवार और बृहस्पतिवार आपने एकोन नामक नगर में बिताये। यहां आपने साइकालोजी क्लब में व्याख्यान दिया। दूसरे दिन शुक्रवार को केण्टन में आप का भाषण हुआ, यहां भी आप साइकलोजी क्लब के द्वारा निमंत्रित होकर गये थे। यहां ६ सौ से ऊपर श्रोता एकत्र हुए थे, उनमें बड़ा ही उत्साह फैल रहा था। जिसमें रविवार को सवेरे समय पर उपस्थित होकर बोस्टन में उपासना-कार्य सम्पन्न करा सकें, इसलिये रात्रि का अधिकांश आपको बरफ

से ढके रास्तों से होकर मोटर द्वारा क्लिवलैण्ड पहुंचने में बिताना पड़ा। उक्त कैण्टन क्लब के अध्यक्ष को क्लब में स्वामी जी का व्याख्यान दिलाने के लिये १०० मील की यात्रा तयकर स्वामीजी को लाना पड़ा था। एकोन और कैण्टन में वेदान्त सम्बन्धी पुस्तकों की बड़ी मांग थी। यह देखकर बड़ा सन्तोष होता है कि देश में मनोविज्ञान शास्त्र की ओर खूब रुचि बढ़ रही है, जगह जगह पर क्लब स्थापित किये जा रहे हैं, जहां आधुनिक सिद्धान्तों के साथ प्राचीन वेदान्त की शिक्षायें भी दी जाती हैं। विकार रहित छात्र यह अच्छी तरह से समझने लग गये हैं कि आधुनिक भिन्न भिन्न विचार श्रोतों का जन्म स्थान उन्नत शिखर हिमालय पर्वत ही हैं जहां प्राचीन काल में आर्य ऋषियों ने एकान्त में बैठ कर योगाभ्यास किया था और मनोविज्ञान के उन सूक्ष्म सिद्धान्तों को ढूंढ़ निकाला था जिनका ज्ञान आज भी लोगों को कठिनाई से होता है। वेदान्त शिक्षा की प्राचीन प्रणाली का अर्वाचीन प्रणाली से सम्बन्ध होने पर, इसमें सन्देह नहीं है, कि अर्वाचीन प्रणाली को जोर पहुंच जायगा।

इलाहाबाद श्रीरामकृष्ण सेवाश्रम का विवरण।

फरवरी १९२२

कुल ६९५ बाहरी रोगियों में ३७१ नये और ३२४ पहले के रोगी थे।

गत मास की बचत	॥≈)॥
इस मास की आय	६६)
कुल आय	६६॥≈)॥
कुल व्यय	६५॥≈)॥
रोकड़ी बाकी	१)

सेवाश्रम की सहायता के लिये भेजी गई रकम मन्त्री द्वारा सधन्यवाद स्वीकार की जायगी।

समन्वय

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

—गीता

वर्ष १] सौर, ज्येष्ठ सम्वत् १९७९ [अङ्क ५

श्रीरामकृष्ण के उपदेश।

—:o:—

रुपये का घमण्ड न करना चाहिये। यदि कहो कि मैं धनी हूं तो धनी एक से एक बड़े हैं। सन्ध्या के बाद जिस समय जुगनू निकलता है वह समझता है कि मैं ही इस जगत को प्रकाश देता हूं। किन्तु जब तारे निकलते हैं उसका घमण्ड चला जाता है, उस समय तारे सोचते हैं कि हम संसार को प्रकाश दे रहे हैं, पर इसके बाद जब चन्द्रमा उदय होता है तब तारे भी लजाकर मलीन हो जाते हैं। चन्द्रमा भी मन में विचारता है कि हमारे प्रकाश से यह जगत हँस रहा है। देखते देखते जब अरुणोदय हुआ तब चन्द्रमा भी मलीन हो गया। थोड़ी देर बाद फिर दिखाई भी नहीं दिया। यदि धनी इनका विचार करें तो फिर उनको अपने धन का घमण्ड न रहेगा।

———